स्थितप्रज्ञ-दर्शन

विनोबा

●

अनुवादक
हरिभाऊ उपाध्याय

१९५२
सस्ता साहित्य मण्डल-प्रकाशन

निवेदन

उन्नीस सौ चवालीस के जाडो मे सिवनी जेल में कुछ लोगो के सामने 'स्थितप्रज्ञ-लक्षण' पर दिये गए ये व्याख्यान है। सारे हिन्दुस्तान मे आज हजारो सत्याग्रही स्त्री-पुरुष रोज शाम को प्रार्थना में इन लक्षणो का पाठ भक्तिभाव से करते है। उनके उपयोग के लिए व्याख्यान यहा पुस्तक-रूप में उपस्थित किये गए है। ऐसा करते हुए शास्त्र-सतोषार्थ उनमे आवश्यक परिवर्तन भी किया गया है।

स्थितप्रज्ञ के लक्षणो में एक समग्रदर्शन ही भरा हुआ है। उसे खोलकर दिखाने का यहा प्रयत्न किया गया है। सभव है कि उसका कुछ भाग पाठको को पहले ही वाचन मे कदाचित् हृदयगम न हो, परन्तु अनेक बार पढकर चिन्तन करते रहने से, और जितना समझ मे आ गया है उतने का प्रयोग करते रहने से, धीरे-धीरे अनुभव के द्वारा सारा आशय खुल जायगा।

तीस वर्षो के निदिध्यास से जो अर्थ स्थिर हुआ उसका विवरण यहा किया है। इसमे कुछ कमी-बेशी तो होगी ही। तो उसका उपाय यही है कि सबकुछ ईश्वरार्पण करके छुट्टी पावें। मेरे विचार मे इसी हेतु से यह प्रकाशन किया जाता है।

परधाम, पवनार
१२-४-४६

—विनोबा

धन्यवाद

मूल मराठी ग्रन्थ से मिलाकर अनेक उपयोगी सुधार सुझाकर, पहले तथा दूसरे दोनो सस्करणो के लिए लगभग अनुवादक के बराबर, जो परिश्रम श्री कृष्णचन्द्रजी, (सेवाग्राम-आश्रम) ने किया है उसके लिए वे हमारे बहुत धन्यवाद के भागी है। कृष्णचन्द्रजी विनोवा-साहित्य के अच्छे अभ्यासी हैं। इससे इस अनुवाद की शुद्धता के विषय में पाठक निश्चिन्त रह सकते है।

—प्रकाशक

विषय-सूची

[२]

११३ आत्म-सुखानुभूति का व्यवहार से विरोध नही है। इतना देख लेना काफी है कि आत्मबोध वाह्य उद्योगो में खर्च न हो

११४ आत्मबोध को खण्डित न होने देने की तरकीब · पहले क्षण में आघात का असर न होने दें

वारहवा व्याख्यान— १०९-११६

[१]

११५ इद्रियो के पीछे जाने वाला मन बुद्धि को भी खीच ले जाता है। इसलिए सयम की आवश्यकता

११६ बुद्धि नौका की तरह तारक, परन्तु मन की पकड में आ जाय तो वही मारक हो जाती है

११७ बुद्धि और मन सदा के लिए जुदा नही हो सकते या तो बुद्धि मन के वश में हो जायगी, या मन बुद्धि के वश में रहेगा। दूसरी वात श्रेयस्कर

[२]

११८ ज्ञानदेव का खास सुझाव ज्ञानी के लिए भी असावधान होकर इद्रियो को खुला छोड देने की गुजाइश नही

११९ वस्तुत ज्ञानी नियम से सयमी नही रहता, स्वभाव से रहता है

१२० ज्ञानी तो ठीक, परन्तु साधक को भी सयम भाररूप नही होता

१२१ स्थित-प्रज्ञ के लिए असयम अशक्य क्योकि स्थिर-बुद्धि का आधार ही सयम है

१२२ सावधानता की अपेक्षा न रखनेवाली सहजावस्था एक प्रकार से मानवी आकाक्षा-मात्र है। अत सावधानी का सकेत हर हालत में उचित ही है

[३]

१२३ इस तरह सयम की आवश्यकता आदि से अन्त तक सिद्ध हुई, अत· निगमन

१४० 'काम' शब्द के अर्थ की छान-बीन

१४१ स्थित-प्रज्ञ सब काम पचा लेता है, यह उसके ज्ञान का गौरव है

[२]

१४२ ज्ञान के गौरव और ज्ञान-स्वरूप के बीच में उसका नीति-सूत्र है

१४३ बीच मे अर्थात् कहा ? यह तत्कालीन समाज की भूमिका पर अवलम्बित रहेगा

१४४ ज्ञानी के नीति-सूत्रो के सम्बन्ध मे ग्रान्यिक कल्पना अनर्थकारक

[३]

१४५ इस श्लोक को देखने की दूसरी दृष्टि, स्थित-प्रज्ञ भावावस्था में सब शुभ देखता है

१४६ शुभ+अशुभ=शुभ, क्योंकि अशुभ=०

१४७ अशुभ मिथ्या, साधना मिथ्या, अशुभ का मरण मिथ्या । केवल एक शुभ सत्य । यह है भावावस्था

पन्द्रहवा व्याख्यान— १३६-१४५

[१]

१४८ स्थितप्रज्ञ-लक्षणो का उपसहार । स्थितप्रज्ञ को कोई कामना नही, जिजीविषा नही

१४९ मुमूर्षा भी नही, मरण की भीति भी नही

१५० जीवन की अभिलाषा ही वास्तविक मरण की भीति, उसके जाते ही जीवन आनन्दमय हो जाता है

१५१ 'चरति' पद के द्वारा यही सूचित किया है

[२]

१५२ 'चरति' का अर्थ 'विषयान् चरति' नही

१५३ 'चरति' का अर्थ आश्रम सन्यास नही

१५४ 'चरति' याने विहार करता है । ज्ञानदेव की भाषा में

१५५ कामना और जीवनाभिलाषा छूटने पर अब शरीर बाकी रहा सो केवल उपकारार्थ । 'निर्ममो निरहकार' पद से यही भाव सूचित किया है

[३]

१५६ पूर्वोक्त भावनावस्था और क्रियावस्था से भिन्न स्थित-प्रज्ञ की यह ज्ञानावस्था बिल्कुल अवर्णनीय

१५७ भावावस्था मे समग्रता है

१५८ क्रियावस्था मे विवेक है

१५९ तीनो अवस्थाएँ मिलाकर स्थित-प्रज्ञ की एक ही अखण्ड वृत्ति

सोलहवा व्याख्यान १४६-१५५

[१]

१६० स्थित-प्रज्ञ की तिहेरी अवस्था के मूल मे ईश्वर का त्रिविध स्वरूप

१६१ ईश्वर का पहला रूप केवल शुभ

१६२ दूसरा विश्वरूप

१६३ तीसरा शुभाशुभ से परे ब्रह्म-सज्ञित

१६४ गीता की परिभाषा मे 'सत्', 'सदसत्' 'न सत् नासत'

१६५ तर्क से सदसत् की चार कोटिया हो सकती है। इनमे तीन ही ईश्वर पर चरितार्थ

[२]

१६६ ईश्वर के और तदनुसार स्थितप्रज्ञ के जीवन का यह विविध स्वरूप 'ज्ञान-यज्ञेन चाप्यन्ये' श्लोक मे सूचित

१६७ इसीका और अधिक स्पष्टीकरण

१६८ बाह्य जीवनाकार में भेद दिखाई देने पर भी सभी स्थितप्रज्ञो को तीनो अवस्थाओ का अनुभव होता है

[३]

१६९ ये अवस्थाएँ परस्पर-सम्बद्ध, परस्पर उपकारक ही है

स्थितप्रज्ञ-दर्शन

पहला व्याख्यान

[१]

१. गीता में स्थितप्रज्ञ के लक्षणों का विशेष स्थान।

स्थितप्रज्ञ के लक्षण गीता का अतिशय प्रसिद्ध विभाग है। ठेठ प्राचीन काल से लेकर आजतक प्राय इतनी प्रसिद्धि गीता के किसी भी दूसरे विभाग को नही मिली। इसका कारण है। स्थितप्रज्ञ गीता का आदर्श पुरुष-विशेष है। यह शब्द भी गीता का खास शब्द है। गीता के पूर्ववर्ती ग्रथो में वह नही मिलता। गीता के बाद के ग्रथो में वह खूब मिलता है। स्थितप्रज्ञ की तरह गीता में आदर्श पुरुषो के और भी वर्णन है। कर्मयोगी, जीवन्मुक्त, योगारूढ़, भगवद्भक्त, गुणातीत, ज्ञाननिष्ठ इत्यादि अनेक नामो से अनेक आदर्श चित्र भिन्न-भिन्न स्थलो पर आये है, परन्तु इन आदर्शों को औरो ने भी उपस्थित किया है। गीता में ये आदर्श भिन्न-भिन्न साधना बताने के सिलसिले में उपस्थित किये गए हैं। वे स्थितप्रज्ञ से भिन्न कोई अन्य पुरुष हो, सो बात नही। स्थितप्रज्ञ के ही वे अनेक पहलू है। उन सबके वर्णन में स्थितप्रज्ञ के लक्षण गीता ने प्राय कही-न-कही गूथ ही दिये है। जैसे—पाचवें अध्याय में सन्यासी अथवा योगी पुरुष के वर्णन में 'स्थिर-बुद्धि' शब्द डाला है। बारहवें अध्याय में भक्त के लक्षणो की समाप्ति 'स्थिरमति' शब्द के द्वारा की है। बुद्धि की स्थिरता हुए बिना कोई भी आदर्श पूरा नहीं होता। इसीलिए यह प्रकरण इतना महत्वपूर्ण माना जाता है। जीवन-मुक्ति की सिद्धि के लिए सबूत पेश करते हुए भाष्यकार* ने स्थितप्रज्ञ के लक्षण उपस्थित किये हैं;

*शकराचार्य

किंतु अंतिम आदर्श का, ध्येयमूर्ति का, साधक की दृष्टि से इतना सविस्तर विवेचन यह एक ही है।

२. पूर्व-भूमिका—सांख्य-बुद्धि व योग-बुद्धि।

स्थितप्रज्ञ के लक्षण समझने के लिए उसके पहले की भूमिका का विचार कर लेना उपयोगी होगा। यह प्रकरण गीता के दूसरे अध्याय के अन्त में आया है। इसके पहले विवेचन के दो भाग आ गये हैं—(१) सांख्य-बुद्धि अर्थात् आत्मज्ञान अथवा ब्रह्मविद्या-शास्त्र और (२) योग-बुद्धि अर्थात् आत्मज्ञान के अनुसार जीवन की कला। शास्त्र व कला मिलकर ब्रह्मविद्या परिपूर्ण बनती है। किसी भी विद्या पर यह बात घटती है। संगीत-विद्या को ही लें। किसीने संगीत-शास्त्र तो सीख लिया, परन्तु गले से संगीत निकालने की कला नहीं साधी तो वह संगीत किस काम आवेगा? इसके विपरीत, यदि गले में कला तो है, परन्तु शास्त्र-ज्ञान नहीं तो फिर प्रगति का मार्ग ही खत्म समझिये। वही स्थिति अध्यात्म-विद्या की, अतएव मनुष्य के जीवन की भी है। मनुष्य का तत्वज्ञान उसकी बुद्धि में गुप्त रहेगा। प्रकट होगा उसका आचरण। उसके आचरण से ही उसके तत्वज्ञान का नाप संसार को व उसको भी मालूम होगा। आचरण व ज्ञान में अन्तर भले ही रहे, पर विरोध हरगिज नहीं रहना चाहिए और अन्तर भी सतत कम करते जाना चाहिए। यह काम है योगबुद्धि का। तुलसीदास ने सन्तों की उपमा त्रिवेणी से दी है। भक्ति को गंगा की व कर्मयोगको यमुना की उपमा देकर ब्रह्मविद्या को उन्होंने गुप्त सरस्वती का स्थान दिया है। इस उपमा के द्वारा उन्होंने यह सूचित किया है कि ब्रह्मविद्या सदैव सरस्वती की तरह अप्रकट ही रहने वाली है। उसे प्रकट करेगी योगबुद्धि। साधक को प्रत्यक्ष मार्ग-दर्शन कराती है योग-बुद्धि। सांख्य-बुद्धि योगबुद्धि की बुनियाद जैसी है। बुनियाद के बिना घर नहीं बन सकता, बिना घर के बुनियाद बेकार है। दियासलाई में आग अव्यक्त रूप से रहती है। दियासलाई रगड़ने से वह प्रकट होती है। अव्यक्त बिजली का कार्य सूक्ष्म बुद्धि ही जान सकती है।

वही जब व्यक्त हो जाती है तो उसका सामर्थ्य हर किसीको दिखाई देता है। साख्य-बुद्धि व योगबुद्धि का पारस्परिक सम्बन्ध ऐसा ही है।

३. योग-बुद्धि की आखिरी मंजिल—स्थिर समाधि, अतएव स्थितप्रज्ञता।

योग-बुद्धि का पहला स्वरूप है कर्तव्य-निश्चय। कर्त्तव्य-निश्चय हुए बिना साधना आरम्भ ही नही होती। निश्चय के बाद एकाग्रता, अर्थात् साधना में तन्मयता, फल पर ध्यान न देते हुए साधना में डूब जाने की वृत्ति, साधनैकशरणता, अथवा साधन-निष्ठा। यह दूसरी मजिल है। उसके आगे की मजिल है चित्त की निर्विकार दशा अथवा समता अतएव समाधि। वही जब स्थिर, अचल हो जाती है, किसी भी झोके से जब डगमगाती नही है तो स्थितप्रज्ञावस्था प्राप्त होती है। जिसपर विकारो की, विचारो की, बल्कि वेदवचनो की भी सत्ता बाकी नही रही है, जिसकी समाधि अचल है, स्थिर हो गई है, वह स्थितप्रज्ञ है। इस तरह योग-बुद्धि की ये चार मजिले है— (१) साधन-निश्चय (२) फल-निरपेक्ष एकाग्रता (३) समता अथवा समाधि और (४) स्थिर समाधि अखण्ड, निश्चल और सहज। यही स्थित-प्रज्ञावस्था है।

४. तद्विषयक जिज्ञासा।

भगवान् के इस विवेचन से कि योग-बुद्धि का अन्तिम परिपाक स्थिर समाधि में, स्थितप्रज्ञता में होता है, अर्जुन के हाथ प्रश्न-बीज लगा। इसलिए उन्ही शब्दो को पकड कर, उसने यह जानने के लिए कि स्थितप्रज्ञ कैसा होता है, पूछा·

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधी. किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम्॥

ऐसे स्थितप्रज्ञ का लक्षण क्या है? वह कैसे बोलता है, कैसे रहता है, कैसे फिरता है, यह सब मुझे बताइए। इसके उत्तर में भगवान ने स्थितप्रज्ञ के लक्षण बताये है जो कि हमारी चर्चा का विषय है।

[२]

५. दुहेरी समाधि : वृत्तिपरक व स्थितिपरक।

भगवान् के विवेचन को समझने के पहले यहा 'समाधि' शब्द को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए, क्योकि यह शब्द बहुत भ्रमोत्पादक है। समाधि का आमतौर पर अर्थ किया जाता है—ध्यान-समाधि। यदि यह बात हो कि समाधि में होना यानी जिस बात का वह चिन्तन कर रहा है उसके अलावा उसे दूसरा कोई भी सवेदन नही होता है तो फिर अर्जुन का यह प्रश्न ही उड जाता है कि समाधिस्थ पुरुष बोलता कैसे है, चलता कैसे है, फिरता कैसे है? इस कठिनाई को देखकर ही कुछ टीकाकारो ने स्थितप्रज्ञ-दशा के दो विभाग कर दिये है। (१) समाधि में रहते हुए, स्थितप्रज्ञ कैसे वर्तता है और (२) समाधि में न रहते हुए कैसे बर्तता है—इस तरह दुहेरा विवेचन किया है। इस विवेचन में कल्पना तो है, परतु उसमें विचार-दोष है। इसमें इस बात का ज्ञान नही है कि गीता-प्रतिपादित इस जगह की समाधि भिन्न प्रकार की है। चढने व उतरने वाली समाधि ध्यान-समाधि है। स्थितप्रज्ञ की समाधि इससे भिन्न है। वह ज्ञान-समाधि है। वह न चढती है न उतरती है। "नैना प्राप्य विमुह्यति" इस तरह उसका वर्णन किया गया है। अर्थात् वह एक स्थिति है, वृत्ति नही। ध्यान-समाधि एक वृत्ति है। चार-चार दिन टिक जाने पर भी उसके उतरने की अपेक्षा रहती है। वैसी यह समाधि नही है।

६. स्थितप्रज्ञ की समाधि वृत्ति नही है।

स्थितप्रज्ञ की समाधि में कोई वृत्ति नही है, बल्कि वह निवृत्ति है। 'निवृत्ति' शब्द से हमारे लोग घबराते है। वे कहते है—"यह तो खामोश होकर बैठ जाना है," परन्तु वह ठीक नही हुआ है। खामोश बैठना भी आखिर एक वृत्ति ही है। स्थितप्रज्ञ में ऐसी वृत्ति भी नही होती। वह सब तरह से निवृत्त है। इसका अर्थ यह नही है कि वह ध्यान नही करेगा। किसी सेवा-कार्य का चितन करने के लिए अथवा फुरसत के समय में वह कुछ

समय ध्यानादि करेगा। परंतु वह उसका लक्षण नही है । उसका लक्षण तो है स्थिरबुद्धि । कर्मयोग जैसे एक उपयोगी साधन है, वैसे ही ध्यान भी है; परन्तु कर्मयोग की तरह ही ध्यान भी स्थितप्रज्ञ की स्थिति नही है ।

७. इस विषय में गीता व योगसूत्रों की एकवाक्यता ।

पतजलि के योग-शास्त्र की बदौलत 'समाधि' शब्द का अर्थ 'ध्यान-समाधि' रूढ हो गया है ! परन्तु पतजलि ने भी ध्यान-समाधि को अतिम स्थिति नही माना है । पतजलि के सूत्र सुव्यवस्थित व अनुभव पर आधारित शास्त्र है। उनके कुल १९५ सूत्रो में पहले तीन सूत्र सारभूत है। ब्रह्म-सूत्र में जैसी चतु.सूत्री, वैसी ही योग-सूत्र में यह त्रिसूत्री है—(१) अथ योगानुशासनम् (२) योगश्चित्तवृत्ति-निरोध · (३) तदा द्रष्टु· स्वरूपेऽवस्थानम् । इन तीन सूत्रो में सारा शास्त्र थोडे में समाप्त हो गया है, परंतु इसमें समाधि का तो कही नाम भी नही आया है। प्राप्तव्य तो है योग और 'चित्तवृत्ति-निरोध' उसकी व्याख्या है। समाधि अर्थात् ध्यान-समाधि भी एक वृत्ति ही है और उसका उपयोग वृत्ति-निरोध-रूपी योग की लब्धि के लिए शिरोमणि साधन के तौर पर पतजलि ने बताया है। 'श्रद्धा-वीर्यस्मृति-समाधि-प्रज्ञा-पूर्वक.' यह उनकी योग पर चढने की सीढी है। शुरू में श्रद्धा, उससे वीर्य अर्थात् उत्साह, तत्पूर्वक स्मृति अर्थात् आत्म-स्मरण, तत्परिपाक तन्मयतारूपी ध्यान-समाधि, उससे प्रज्ञा, और प्रज्ञा स्थिर हुई कि वही योग है । इन सीढ़ियो से योगलाभ होता है, ऐसा उन्होने स्पष्ट कहा है। अर्थात् योग की प्राप्ति के लिए समाधि के बाद उन्होने प्रज्ञा बताई है। यह 'प्रज्ञा' शब्द पतजलि ने गीता से ही लिया है। अर्जुन के प्रश्न से पूर्व के श्लोक में भगवान ने कहा है कि समाधि में बुद्धि के अचल हो जाने पर तुझे योग की प्राप्ति होगी। 'योग' ही पंतजलि का अतिम शब्द है। उसका साधन उन्होंने प्रज्ञा बताया है और प्रज्ञा-लब्धि का साधन समाधि को सूचित किया है। समाधि का ध्यान-स्वरूप जाकर जब उसे सदा की सहज स्थिति का स्वरूप प्राप्त होता है तब वह प्रज्ञा कहलाती है। इस तरह पतजलि के सूत्रो व गीता-कृत विवेचन में समन्वय है।

[३]

८. 'स्थितप्रज्ञ' में कम्प व वक्रता नहीं।

स्थितप्रज्ञ की कल्पना मे बुद्धिवाद की पराकाष्ठा हो गई है। बुद्धि, खालिस बुद्धि, को बोध का साधन माना गया है। रागद्वेषादि विकारो से अलिप्त बुद्धि ज्ञान का वास्तविक साधन हो सकती है। हम कहते है कि फलां बात मेरी बुद्धि को नही जचती। गीता कहती है—'मेरी बुद्धि को' मत कह। 'मेरी' विशेषण को छोडकर केवल खालिस बुद्धि क्या कहती है, यह देख। मेरेपन में अहकार है, विकार है, सस्कारो की गुलामी है, परिस्थिति का बन्धन है। तू 'मद्बुद्धिवादी' है या बुद्धिवादी ? जब बुद्धि विकार-रहित हो जाती है, सब उपाधियो से अलग हो जाती है तो वह स्थित होती है। "स्थित होती है," का मतलब सीधी तनकर खडी रहती है, डगमगाती नही। उसमें कम्पन नही रहता। 'सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते' उसे निष्कप योग प्राप्त होता है—ऐसा जो आगे दसवे अध्याय मे कहा है उसका अर्थ यही है। बुद्धि मे जरा-सा भी कम्प या डगमगाहट, हिचकिचाहट, घबराहट, अनिश्चय बाकी न रहना चाहिए। तभी वह बुद्धि काम देगी और तभी उसे बुद्धि कहेगे। 'स्थित' शब्द का दूसरा अर्थ है 'सरल'। बुद्धि बिलकुल सरल होनी चाहिए। उसमें जरा भी टेढापन न होना चाहिए। चरखे के तकुए में, महीन सूत कातते वक्त जरा भी टेढापन नही चल सकता। बिलकुल सीधे, सरल होने पर ही वह काम देता है, वही हाल बुद्धि का है। चरखे का सरल-सीधा तकुआ स्थित-प्रज्ञ की बुद्धि के लिए उत्कृष्ट उपमा है। सीधे तकुए को अंग्रेजो में 'ट्रू' कहते हैं। इस शब्द मे बडी खूबी है। जिस तकुए में जरा भी वक्रता न हो उसे ट्रू अर्थात् अचूक कहते हैं। इसी तरह बुद्धि ट्रू अर्थात् अचूक होनी चाहिए।

९. कम्प व वक्रता का अधिक विश्लेषण।

कम्प व वक्रता इन दोषो का थोडा पृथक्करण कर लेना चाहिए। वस्तुत ये दोनो मिलकर एक ही दोष है। चरखे के तकुए से यह बात समझ में आ जाती है। जो तकुआ टेढ़ा होता है, वही कापता है। यही बात बुद्धि की है।

सरल-सीधी बुद्धि कभी कापेगी नही। इस तरह कम्प व वक्रता दोनो के एक रूप होने पर भी विचार की दृष्टि से उनका पृथक्-पृथक् अर्थ ग्रहण करना चाहिए। सूक्ष्म दृष्टि से देखे तो 'कम्प' मुख्यत. बुद्धि का व वक्रता मन का दोष है। मन एक तरह से बुद्धि का ही भाग है। तो भी विचार की सुविधा के लिए उसे बुद्धि से अलग कर लिया जाता है। छोटे बच्चे का मन बिलकुल सरल होता है, अत वह अतिशय वेग से ज्ञान ग्रहण कर सकता है। इसलिए ज्ञान-दृष्टि से ऋजुता सबसे महत्वपूर्ण गुण समझना चाहिए। बिना ऋजुता के निश्चित व निष्कम्प ज्ञान प्राप्त नही होगा। अर्जुन शब्द का अर्थ भी दरअसल 'ऋजु बुद्धि वाला' है।

१०. बुद्धि व प्रज्ञा का भेद।

गीता का 'प्रज्ञा' शब्द विशेष अर्थ का द्योतक है।'बुद्धि' शब्द सामान्य है। बुद्धि मनुष्य के मनोविकारो के अनुसार बदलने-पलटनेवाली होती है। मनुष्य की मानसिक कल्पनाओ के रग बुद्धि पर चढते है। यह रगीन बुद्धि अचूक निर्णय नही कर सकती। जिस बुद्धि पर मानसिक कल्पनाओ का, विकारो का, पसन्दगी-नापसन्दगी का, वृत्तियो का रग नही चढता, जो केवल ज्ञान का कार्य करती है, वही प्रज्ञा है। प्रज्ञा तटस्थ रहती है। वह ठीक वस्तुस्वरूप पर लक्ष्य रखकर निर्णय दिया करती है। जब बुद्धि पर रग चढ जाता है तो एक ही बुद्धि की अनेक बुद्धिया बन जाती है। दया का रग चढ जाने पर दयाबुद्धि, द्वेष का रग चढ जाने पर द्वेषबुद्धि। इस प्रकार अनेक बुद्धिया मनुष्य को चारो ओर खीचने का, त्रस्त करने का, व्याकुल कर देने का, जर्जर करने का काम अलबत्ता करती रहती हैं। ऐसी हजार बुद्धिया मार्गदर्शन करने में बेकार होती है। शुद्ध-बुद्धि अर्थात् प्रज्ञा ही ठीक निर्णय देती है, क्योकि उसका अपना कोई रग नही होता। वह थर्मामीटर की तरह होती है। थर्मामीटर को खुद बुखार नही चढा होता। इसीसे वह दूसरो के ताप का मापक हो सकता है।

११. शरीर-शक्ति से बुद्धि-शक्ति की विशेषता।

बुद्धि किसीके पास कम हो या किसीके पास ज्यादा, इसका महत्त्व नही।

महत्त्व है स्वच्छ बुद्धि का। आग की एक छोटी-सी भी चिनगारी हो तो वह कार्यकारी हो सकती है। वह कपास के सारे ढेर को जला सकती है। इसके विपरीत कोरा कोयला बडा-सा होने पर भी वह उसमें दब जाता है। प्रश्न बुद्धि के कम या ज्यादा होने का नही है। खालिस बुद्धि की एक छोटी-सी चिनगारी, एक छोटी-सी ज्योति हो तो भी काफी है। बुद्धि की शक्ति की यही खूबी है। परन्तु शारीरिक शक्ति की बात ऐसी नही है। कोई सौकिया पहलवान इस जन्म मे गामा हो सकेगा या नही, इस बात में सदेह हो सकता है, किसी अल्प-बुद्धि मनुष्य के लिए राष्ट्रकार्य-सचालन के योग्य नेतृत्व साधना सम्भव नही, परन्तु बिलकुल अल्पबुद्धि व अशिक्षित मनुष्य भी इस जन्म में स्थितप्रज्ञ अवश्य हो सकता है। उसके लिए गठरी भर बुद्धि की जरूरत नही है। प्रज्ञा की एक चिनगारी ही बस होती है। भारी-भरकम बुद्धि चाहे कितने ही ससार के काम-काज व उथल-पुथल करती रहे, परन्तु त्रिभुवन को खाक करने का सामर्थ्य तो सिर्फ प्रज्ञा की चिनगारी में ही है।

दूसरा व्याख्यान

[१]

१२. समाधि का कुछ और विवेचन।

अर्जुन का प्रश्न हमने देखा। प्रज्ञा किसे कहते है, समाधि क्या है, इसका भी हमने विचार किया। प्रज्ञा का अर्थ सामान्य बुद्धि नहीं; बल्कि वह बुद्धि जिसका झुकाव केवल निर्णय की ओर होता है। यह प्रज्ञा 'स्थित' अर्थात् सीधी खडी रहनी चाहिए। 'सीधी खडी' का मतलब है निश्चित व सरल। हमने यह भी देख लिया कि समाधि का मतलब ध्यान-समाधि से नहीं है। यहा 'समाधि' शब्द का थोडा और भी विवेचन करना उपयोगी होगा। 'समाधि' शब्द में 'स' और 'आ' ये उपसर्ग व 'धा' धातु है। 'समाधान' शब्द की व्युत्पत्ति भी यही है। चित्त के समाधान की स्थिति ही समाधि है। समाधान कहते है, 'समतुलन' को। जब तराजू के दोनो पलडे बिलकुल समान हो तो कहते है तराजू समतोल है, तराजू का समाधान है। तराजू की डण्डी की तरह चित्त की स्थिति समतोल, अचल व शात हो जाय तो उसका समाधान हो गया। यह समाधि सदा टिकती है। कभी भी भग नही हो पाती। आगे छठे अध्याय मे इस स्थिति की उपमा बिल्कुल निर्वात स्थान में जलते हुए दीपक से दी गई है। इसीको दीप-निर्वाण कहते है। 'दीप-निर्वाण' का अर्थ करना चाहिए— दीपक की एक-सी अडोल लौ उठती रहना। 'दीपक का बुझ जाना' ऐसा अर्थ करना ठीक नही है। बुझ जाने के बाद की शान्ति, शरीर के रहते हुए, प्राप्त नही हो सकती। समाधि का मतलब है चित्त की ऐसी शान्त स्थिति

जो इसी देह में—जीवन में—अनुभव की जा सके और जो कभी चलित न हो। इस तरह अर्जुन के प्रश्न का उत्तर उन प्रश्न के 'समाधि' शब्द से ही सूचित किया जा रहा है और वही अब भगवान् एक श्लोक में व्याख्या करके बता रहे हैं।

१३. स्थितप्रज्ञ की समाधि की निषेधक और विधायक मिलाकर पूर्ण व्याख्या।

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्ट स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥

यहा समाधि की शास्त्रीय व्याख्या की जा रही है। 'उच्यते' शब्द यहा व्याख्या का द्योतक है, ऐसा समझना चाहिए। इस श्लोक की व्याख्या यथार्थ और सम्पूर्ण है, अर्थात् उसका दुहेरा स्वरूप है—निषेधक व विधायक। इस तरह दुहेरी व्याख्या करने पर ही वह पूर्ण होती है। जैसे अहिंसा शब्द को लीजिये। 'हिंसा न करनी चाहिए' यह उसका निषेधक अर्थ हुआ। 'प्रेम करना चाहिए' वह विधायक हुआ। दोनो को मिलाकर अहिंसा की पूर्ण व्याख्या होगी। "प्रजहाति यदा कामान्" यह निषेधक लक्षण और "आत्मन्येवात्मनातुष्ट" यह विधायक स्वरूप हुआ। यह उभयविध लक्षण सुनिश्चित और सूक्ष्म भाषा में किये गए है।

१४. निषेधक व्याख्या : निःशेष कामना-त्याग।

"मन की सब कामनाओ को छोड देना" यह निषेधात्मक लक्षण यहा बताया गया है। 'मन' कामनाओ से बना हुआ है तो इसका अर्थ यह हुआ कि 'ऐसा मन ही न रहे'। किसी एक ज्योतिषी की नजर मेरे हाथ पर पड गई। उसने कहा "तुम्हारे हाथ में तो हृदय की रेखा ही नही दिखाई देती।" मैने कहा—"ऐसा हो तो फिर मुझे भगवान् ही मिल गया।" मेरी दृष्टि से मनुष्य को केवल बुद्धि ही होनी चाहिए, मन का न होना ही अच्छा है। मन को बुद्धि में घुल-मिल जाना ही चाहिए। मन का अर्थ है सकल्प-विकल्प। मन है कामनाओ की गठरी। सकल्प-विकल्प या कामनाए सब ऐसे

होने चाहिए जो बुद्धि की प्रेरणा से चलें। मन और बुद्धि में अनबन न होनी चाहिए—खीचातानी न होनी चाहिए। बस, बुद्धि कहे व मन करे। निर्णय करना काम है बुद्धि का। बुद्धि कानून बनाने वाला महकमा है। मन उसपर अमल करने वाला महकमा। उसे बुद्धि के क्षेत्र मे बिलकुल दखल न देना चाहिए। जिसका काम वही करे। जीभ इतना ही देखे कि लड्डू मीठा लगता है या कडुवा, वह खाने के योग्य है या अयोग्य? लड्डू कितने खावें, यह तय करना उसका काम नही। वह इसमें फिज़ूल ही टाग अड़ाने का साहस न करे। इसी तरह मन को बुद्धि के अनुसार चलना चाहिए। वह धीरे-धीरे बुद्धि में लीन हो जाय। मन-रूपी कामनाओ की गठरी में से यदि एक-एक चिंधी निकाल डालें तो फिर खतम हुई वह गठरी। यो कहिये कि मन घुल गया, मिल गया, विलीन हो गया, बुद्धि से एक-रूप, एक-रस, एक-जीव हो गया। यही वास्तविक मनोनाश है। मनोनाश का अर्थ 'मन की शक्ति का नाश' नही है। मनोनाश का अर्थ है कि मन बुद्धि का अनुसरण करे। बुद्धि के निर्णय के अनुसार बिना ची-चपड किये चले। अमल करने की मन की शक्ति को नष्ट करने की जरूरत नही है। उस शक्ति को तो कायम रखना है। किंतु हा, मन की कामनाओ को समूल नष्ट कर देना है। इस तरह मन की सब कामनाओ का सम्पूर्णत त्याग करना स्थितप्रज्ञ की व्याख्या का निषेधात्मक अग हुआ।

१५. विधायक व्याख्या : आत्मदर्शन।

अब व्याख्या के विधायक अग का विचार करें। "आत्मन्येवात्मनातुष्ट.' यह विधायक लक्षण है।' स्थितप्रज्ञ अपने आत्मा में ही सतुष्ट रहता है। बाहर के दिखावे की अपेक्षा वह भीतरी दृश्य से ही तृप्त होता है। वस्तुतः बाहरी दृश्यो से यह भीतरी दर्शन ही अधिक सुन्दर व भव्य होता है। कवि जिस दृश्य का वर्णन अपने काव्य मे करता है उस प्रत्यक्ष दृश्य की अपेक्षा भी उसका वह वर्णन अधिक मधुर होता है। उसका कारण यही है कि उसका वह आदर्शमय अन्तरग बाह्य सृष्टि की अपेक्षा अधिक **रमणीय**

होता है। वही रमणीय आत्मदर्शन इस विधायक लक्षण में सूचित किया गया है। इन दोनो लक्षणो को मिलाकर स्थितप्रज्ञ का सम्पूर्ण दर्शन होता है। वह कामनाओ का त्याग करता है और सन्तोष का झरना तो उसके अन्दर ही रहता है। कामनाओ मे आनन्द नही है। यह बात उसके चित्त में ठस गई होती है। और यह विचार करने जैसा प्रश्न है कि सचमुच कामनाओ में आनन्द या समाधान है भी ? अनुभव नही बताता कि कामनाओ से शान्ति, शीतलता,समाधान प्राप्त होता है। बल्कि उलटा उनसे मन एक-सा छटपटाता रहता है। छटपटाहट मनुष्य को बेचैन कर देती है, आग लगा देती है। अत यह डर रखने की बिल्कुल जरूरत नही है कि कामना के चले जाने से शीतलता कम हो जायगी। कामना में जो समाधान मालूम होता है वह कोरा भास ही है। आनन्द तो कामना की तृप्ति में अतएव दूसरे शब्दो में उसके अभाव में होना है। कामना पूर्ण होने का अर्थ है एक तरह से उसका शमन होना, नष्ट होना। विचार करने पर यह बात ध्यान में आ जायगी कि आनन्द का स्थान कामना नही, बल्कि उससे मुक्ति है। इसीलिए यहां कामना का सम्पूर्ण त्याग और आत्मा में ही अर्थात् अपनें स्वरूप में ही सतोष, ऐसा दुहेरा लक्षण बताया गया है।

१६. आत्मदर्शन व कामना-त्याग परस्पर कार्य-कारण हैं।

यहा जो दुहेरा लक्षण बताया गया वह केवल विधायक व निषेधक ही नही, बल्कि उसमें से एक दूसरे प्रकार का भी दुहरा अर्थ निकलता है। इन-में पहला प्रारम्भिक व दूसरा प्रगत स्वरूप का है, ऐसा भी कह सकते हैं। पहले तो तमाम कामनाओ को छोड देना यह साधन-रूप हुआ। दूसरा लक्षण कामनात्याग से प्राप्त स्थिति का द्योतक है। अत पहला है साधन-रूप प्राथमिक, दूसरा है उसका फलित-रूप प्रगत। "बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्"—बाह्य विषयो से चित्त जब अलग हो जाता है तब पता चलता है कि अन्दर कैसा आनन्द भरा है, इस वाक्य में गीता ने यह क्रम बताया ह। इसके विपरीत स्थितप्रज्ञ के लक्षणो में ही आगे चल-

कर ऐसा भी कहा है कि जैसे-जैसे आत्मदर्शन होता जाता है वैसे-वैसे कामना का रस सूखता जाता है। इसका यह अर्थ हुआ है कि आत्मदर्शन साधन है औरकामना-नाश उसका फल। इस दृष्टि से "आत्मन्येवात्मनातुष्ट." यह मूल-भूत लक्षण माना जा सकेगा। आत्मतृप्ति दिखाई नही देती, कामनाओ का त्याग दीख जाता है। किसी मनुष्य में कामना का न दिखाई देना उसका प्रकट लक्षण है। आत्म-सतोष का वह चिह्न व परिणाम है। अत' उसे फल-स्वरूपी कह सकते है। परन्तु पहले आत्मदर्शन या पहले कामनात्याग, ऐसा विवाद करना ही व्यर्थ है। 'पहले वीज या पहले पेड' जैसा ही यह विवाद है। आत्मदर्शन व कामना-त्याग एक-दूसरे के कार्य-कारण है।

[२]

१७. कामना-त्याग की चार प्रक्रियाएं।

यहा सब कामनाओ का नि शेष त्याग बताया गया है। अर्थात् कामना को काटे की तरह माना गया है। काटा चाहे सोने का भी हो, वह चुभेगा ही। छुरी सोने की होने पर भी प्राणहरण करेगी ही। अत' गीता का यह सिद्धात है कि शुरू से आखीर तक सब तरह की कामनाओ को एकदम निकाल डालना चाहिए, परन्तु गीता के ही आधार पर यह कहा जाता है कि कुछ कामनाए रहने देने मे गीता को आपत्ति नही है। "धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ" यह वचन सबूत मे पेश किया जा सकता है। तो इस प्रश्न का विचार कर लेना चाहिए। सच पूछिये तो इन दोनो वचनो में वास्तविक कोई विरोध ही नही है। एक वाक्य में उस मुकाम का निर्देश किया गया है जहा हमें पहुचना है। दूसरे वाक्य में यह सुझाया गया है कि कामनाओ का त्याग कैसे करना चाहिए। कामना-नाश की प्रक्रिया के साधारणतः चार प्रकार है—(१) व्यापक प्रक्रिया (२) एकाग्र प्रक्रिया (३) सूक्ष्म प्रक्रिया और (४) विशुद्ध प्रक्रिया।

१८. कर्मयोग की व्यापक प्रक्रिया।

(१) व्यापक प्रक्रिया। कामना व्यक्तिगत होती है। उसे सामाजिक

रूप देना कर्मयोग की कामना-नाश-सम्बन्धी एक तरकीब है। फर्ज कीजिये कि कोई देहाती सज्जन अपने लडके को पढाना चाहते हैं। वह अपने गाव में एक पाठशाला ही कायम कर ले। अपने लडके की पढाई के इतजाम के साथ-ही-साथ औरो के लडको की भी पढाई की सुविधा कर दें। इस तरह अपनी कामना को सामाजिक रूप दें। पुरानी भाषा मे एक दूसरा उदाहरण दू। किसीको मास खाने की इच्छा हुई तो उन्हें कहा कि मास ही खाना हो तो यज्ञ करो। यज्ञ करने से दूसरो को खिलाकर फिर यज्ञशिष्ट तुम खा लोगे। घर में स्त्रिया ऐसा ही करती है। मिठाई खाने की तबीयत सभी की होती है तो घर में मिठाई बना ली जाती है। स्त्रिया पहले सबको पेट भर कर खिला देती है, फिर बची-खुची आप खा लेती है। सच पूछिये तो उनके हिस्से में मिहनत ही आती है। इस तरह स्त्रिया अपनी कामना को कुटुम्ब-व्यापी बना लेती है। यह कर्मयोग वाली कामना-नाश की युक्ति है। इस प्रक्रिया की मशा यह है कि व्यक्तिगत कामना को सामाजिक रूप दें जिससे वह व्यापक होते-होते लोप हो जाय।

१९. ध्यान-योग की एकाग्र प्रक्रिया।

(२) एकाग्र प्रक्रिया। अपने मन की अनेक वासनाओ में तुलना देखिये कि अन्त में सबसे प्रबल वासना कौन-सी है। अब शेष वासनाओ को छोड दीजिये और उसी एक वासना का ध्यान कीजिये, उसीमें अपने चित्त को एकाग्र कर दीजिये। मान लीजिये कि किसी विद्यार्थी के मनमें अनेक वासनाओ के साथ वेदाभ्यास की भी इच्छा है, परन्तु वह अन्य वासनाओ से ज्यादा बलवती है। वह गुरुगृह में जाकर रहेगा, जैसा मिलेगा वैसा खाना खा-पीकर अध्ययन करेगा, जिससे उसकी मीठा खाने की वासना अपने-आप मर जायगी। इस तरह अपनी मुख्य वासना को प्रमाण मानकर उसके-अनुसार अपना सारा जीवन बनावें, यह ध्यानयोग की तरकीब है। जिन विद्यार्थियों की तीव्र इच्छा विद्याध्ययन की है उनमें हम यह बात पाते हैं। इतर वासनाओ का निग्रह करके वे विद्यार्जन के लिए अनेक

काष्ठ उठाते है । "सुखार्थिन कुतो विद्या, कुतो विद्यार्थिन सुखम्" यह व्यासदेव का वचन ही है। इसके विपरीत हम तो उलटा विज्ञापन देते है कि हमारे छात्रालय म सुख-सुविधा व विद्या दोनो की व्यवस्था है । यह भाषा ही गलत है। सुख की ओर ध्यान दिया तो विद्या में मन लगेगा ही नही। अत अपनी वासनाओ की छानवीन करके जो सबमे प्रबल लगे उसीपर सारी शक्ति एकाग्र कीजिये । आज के भौतिक प्रयोग-कर्ता वैज्ञानिक ऐसा ही करते है । वे अपना सारा ध्यान व शक्ति अपने प्रयोग मे लगाते है। यह हुआ ध्यान-योग । इतर वासनाओ का निरास करके एक ही वासना पर केद्रित हो, फिर उसे भी छोड दे। एकाग्रता सघ जाने पर फिर उस वासना का भी त्याग करके छुट्टी पावे ।

२०. ज्ञानयोग की सूक्ष्म प्रक्रिया ।

(३) सूक्ष्म प्रक्रिया । इस प्रक्रिया मे स्थूल वासना को छोडकर सूक्ष्म को ग्रहण करने की तरकीब बताई गई है। यदि सज-धज का शौक तो शरीर को सजाने की बनिस्बत अन्तरग को सजाओ, अपनी बुद्धि को सजाओ, चतुर बनो। नवीन विद्या प्राप्त करो, कला सीखो। शरीर के स्थूल शृगार की अपेक्षा यह बौद्धिक शृगार सूक्ष्म है । इससे भी अधिक सूक्ष्म शृगार की विधि है हृदय को शुभ गुणो से मडित करना। शरीर को सुगन्धित करने वाले इत्र की अपेक्षा बुद्धि-चातुर्य अधिक सुगन्धित इत्र है और उससे भी अधिक सुगन्धित इत्र है हृदय की शुभ-गुण-सम्पत्ति। नामदेव ने एक अभग मे विठाई-मा ने मुझे कैसा सजाया है इसका बडा बढिया वर्णन किया है। जिस प्रकार मा अपने बच्चे के बाहरी अगो को सजाती है ठीक वैसा ही अन्तरग शृगार का वर्णन उसमें है। बाह्य शृगार की अपेक्षा अन्त शृगार से जीवन की शोभा विशेष बढेगी । शोभा के स्थूल रूप को छोडिए व सूक्ष्म रूप को पकड़िए। आनन्द कामना में नही, कामना-तृप्ति मे है। कामना यदि स्थूल हो तो उसकी तृप्ति कठिन होती है, क्योकि तब बाहरी साधन जुटाने पडते है। वही यदि सूक्ष्म हो तो फिर तृप्ति में बाधा कम होती है, क्योकि

अपने भीतर के साधनों से ही वह तृप्त हो जाती है। इस तरह कामना अन्तर्मुख व सूक्ष्म होते-होते अन्त में बिल्कुल नष्ट हो सकती है, या होनी ही चाहिए। यह ज्ञान-योग की तरकीब है।

२१. भक्ति-योग की विशुद्ध प्रक्रिया।

(४) विशुद्ध प्रक्रिया। इस प्रक्रिया के अनुसार हम वासना में व्यक्तिगत व सामाजिक, गौण व मुख्य, अथवा स्थूल व सूक्ष्म ऐसा भेद नहीं करते। शुभ वासना और अशुभ वासना ऐसा भेद करते हैं। अच्छी वासनाओं को रखिये, बुरी को छोड दीजिये। यदि मीठा खाने की इच्छा हुई तो मिठाई न खाके आम खा लीजिये। मिठाई से नुकसान हो सकता है और उससे रजोगुण भी बढेगा। आम तन्दुरुस्ती के लिए अच्छा होता है और उससे सत्वगुण की भी वृद्धि होगी। इस प्रक्रिया में हम आरम्भ में ही वासना को मारने के लिए नही कहते। इतना ही कहते है कि अशुभ को छोडो व शुभ को पकडो। अब शुभ क्या व अशुभ क्या, इसका निर्णय व्यक्ति खुद अपनी बुद्धि से कर ले। जिसका जो मत वही उसके लिए प्रमाण। कुछ वासनाओं की शुभाशुभता का निर्णय साइन्स अर्थात् विज्ञान की सहायता से किया जा सकेगा। कुछ वासनाओं के सम्बन्ध में यद्यपि विज्ञान की सहायता से ऐसा विवेक बन सका तो भी अन्त में शुभ क्या व अशुभ क्या, इसका निर्णय जिसकी वासना है उसीको अपने विचार से ही करना पडेगा। अशुभ वासनाओं का त्याग व शुभ वासनाओं की पूर्ति करते-करते मन शुद्ध होकर वासना ही उड जायगी। यह कामना-नाश की विशुद्ध प्रक्रिया है।

२२. विशुद्ध प्रक्रिया सब तरह से सुरक्षित।

इन चारों प्रक्रियाओं में अन्त की यह विशुद्ध प्रक्रिया सबमें अचूक, बिना खतरे की, अतः सबसे अच्छी है और प्रायः भक्तियोग ने उसीको स्वीकार किया है। इतर प्रक्रियाओं में शक्ति है, वैसे ही खतरा भी बहुत है। व्यापक प्रक्रिया में कहा गया है कि कामना सामाजिक बनाई जाय, परन्तु यदि वह कामना ही अशुभ हो तो? किसीको शराब ही पीने की इच्छा हुई

तो इस प्रक्रिया के अनुसार उसे शराब पीने का सार्वजनिक क्लब खोलना चाहिए। परन्तु इससे उसका व समाज का भी अध.पात ही होगा। केवल सामाजिक वना देने से वासना शुद्ध होती हो सो बात नही। एकाग्र प्रक्रिया में भी वही खतरा है। जिस वासना पर चित्त की एकाग्रता करनी है यदि वही अशुभ हो तो सभी खत्म हुआ। चित्त की एकाग्रता योग-शास्त्र का विषय है। उसमें पतजलि ने ऐसा सकेत कर रखा है कि ध्यान-योग का आचरण यम-नियम-पूर्वक ही करना चाहिए, नही तो उससे अनर्थ हो जायगा। ध्यान-योग तारक होने के बजाय मारक हो रहेगा। सामाजिकता व एकाग्रता में शक्ति अवश्य है, परन्तु वह यदि ऊटपटाग हुई तो उससे मनुष्य राक्षस भी वन जायगा। सूक्ष्म प्रक्रिया भी सुरक्षित नही है। वासना सूक्ष्म होने पर पवित्र ही होगी, यह नही कह सकते। किसीको काम-वासना ने घेर लिया और वह यदि अमूर्त काम का ही चिन्तन करने लगा तो परिणाम कदाचित् अधिक ही भयानक हो जायगा। अत भक्तियोग द्वारा अगीकृत यह 'विशुद्ध-प्रक्रिया' सवमें सुरक्षित है। इसलिए तुलसीदास ने कहा है "भगति सुतत्र अवलम्ब न आना"। इतर साधनो में वर्तमान खतरे को मिटाने के लिए उन्हे भक्तियोग के आधार की जरूरत होती है, परन्तु भक्ति को कोई अवलम्बन दरकार नही। इतर साधन शक्तिशाली है, पर साथ ही खतरें से भरे हुए भी हे। एक ओर शक्ति है तो दूसरी ओर सुरक्षितता है। भक्ति व शक्ति मे इस तरह भेद है। भक्ति के साथ यदि शक्ति का जोड न हो तो वह दुर्बल भले ही हो जाय, परन्तु अपवित्र व मारक न होगी। इसके विपरीत यदि शक्ति के साथ भक्ति न हुई तो वह सर्वनाश ही कर डालेगी। भक्ति किसी भी दशा में अकल्याण न करेगी। अत कामना-नाश की भक्ति-योग द्वारा मान्य विशुद्ध प्रक्रिया सब तरह से सुरक्षित व अनुकूल है। "धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि" वाक्य के द्वारा उसीको दर्शाया गया है।

तीसरा व्याख्यान

[१]

२३. स्थितप्रज्ञता के सुलभ साधन ·

(अ) सुख-दुःख सह लो।

स्थितप्रज्ञ की एक परिपूर्ण व्याख्या हो गई। अब आगे तीन श्लोकों में इस व्याख्या का उत्तरोत्तर सुलभ विवरण किया गया है। उनमें पहले श्लोकमें स्थितप्रज्ञ की व्याख्या का मानसशास्त्रीय विवरण है—

> दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
> वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥

व्याख्या-निदर्शक 'उच्यते' शब्द यद्यपि इसमें आ गया है, तथापि यहा व्याख्या की अपेक्षा नही है, क्योंकि व्याख्या तो पहले ही हो चुकी है। स्थितप्रज्ञ की शास्त्रीय व्याख्या में सब कामनाओं का समूल त्याग अपेक्षित है, परन्तु वह ऐसा सरल नहीं है। अत अब इन श्लोकों में स्थित-प्रज्ञ का अपेक्षाकृत सरल लक्षण बताया गया है। दु ख या अप्रिय प्राप्त हो तो उद्वेग न होने देना चाहिए। उद्वेग होने देने का अर्थ है घबरा जाना, ऊब जाना या परेशान हो जाना। इस शब्द में ही यह अर्थ रखा हुआ है। 'उत' का अर्थ है ऊपर, 'वेग' के मानी है 'गति'। ऊपर चलते हुए जैसे बैलों को आफत होती है, नाकोंदम हो जाता है, वैसी हालत न होनी चाहिए। दु ख को धैर्य से सहना चाहिए, उसके सामने घुटने न टेकना चाहिए। दु ख की तरह सुख को भी सावधानी से सहना चाहिए। मनुष्य नहीं चाहता कि दु ख हो। अत उससे

वह भुलावे मे नही आ सकता, उसे तो धीरज से सह लिया कि बस। परन्तु सुख तो मनुष्य चाहता है। इससे मन उसके भुलावे मे आ सकता है। अत सुख मे खतरा है। सुख की लालसा लगना सुख-सम्बन्धी गलतफहमी का परिणाम है। अत जब सुख आवे तो सावधान होकर मन को रोक लेना चाहिए। दु ख आने पर धैर्य रखना चाहिए, सुख आने पर उसमें मन को लिप्त न होने देना चाहिए। उसे रोक रखना चाहिए। उतार पर बैल दौडन लगता है। इस तरह सुख के समय मन की वृत्ति दौडने लगती है। अत उसे रोक रखने की जरूरत है। यह काम उतना कठिन नही है। कामना-त्याग के हिसाब से बहुत ही सरल है। यहा कामना के दो रूप बताये गये है—सुख का वाछनीय मालूम होना, व दु ख का अवाछनीय लगना। इन दोनो का सयम यहा बताया गया है।

२४. (आ) वृत्ति न उठने दो।

कामना के जैसे दो प्रकार है वैसे तीन परिणाम होते है—(१) तृष्णा (२) क्रोध (३) भय। अनुकूल वेदना से तृष्णा उदय होती है। प्रतिकूल वेदना से क्रोध। भय भी क्रोध का ही, प्रतिकूल वेदना का ही, एक रूप है। परन्तु हमारे मन मे जीवित रहने की एक विशेष आसक्ति रहती है, जिससे भय-वृत्ति क्रोध से भिन्न गिनी जाती है। हमारी जिजीविषा पर आघात होने से भीति उत्पन्न होती है। यह वृत्ति सभी प्राणियो मे स्वरसवाही अर्थात् रक्त मे सनी हुई है। जीवनोच्छेद का प्रसग आते ही वह जाग्रत हो उठती है। जालिम लोगो ने इस भय-वृत्ति से बहुत फायदा उठाया है। उन्होने मनुष्यो को भय दिखाकर ही गुलाम बनाया है। तोप, बन्दूक आदि शस्त्रास्त्रो की अपेक्षा उनकी सत्ता का वास्तविक आधार यह भय-वृत्ति ही है। अत तृष्णा व क्रोध इन वृत्तियो को मिटाने के लिए जैसी स्वतन्त्र साधना करनी पडती है वैसे ही भय-वृत्ति को जीतने के लिए स्वतन्त्र साधना करना जरूरी है। तृष्णा, क्रोध व भय—इन तीनो वृत्तियो के नाश हो जाने पर प्रज्ञा स्थिर होती है। ये वृत्तिया बुद्धि पर आघात करती है, अत. उनके

गम्भीरता हो तो उसके लिए यह सहज सधने जैसा है । यदि बन्दर की तरह वृत्ति हुई तो फिर सयम नही सधने का। बन्दर आनन्द से किलकिलाने लगते हैं, दु ख से किचकिचाते हैं । ऐसी वृत्ति न हो, थोडी गम्भीरता हो तो यह कठिन न मालूम होगा ।

२६. स्थितप्रज्ञता का सुलभतम साधन : इन्द्रियों का नियमन करो ।

सयम को और भी सुलभ तथा स्पष्ट करन के लिए अगले श्लोक में कछुए का उदाहरण देकर इद्रिय-निग्रह बताया है ।

यदा सहरते चाय कूर्मोऽगानीव सर्वश ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

कछुआ अपने अवयवो को बटोर लेता है, उसी तरह अपनी इद्रियो को विषयो से समेट लो । यो कछुआ अपने तमाम अवयवो को फैलाकर चलता है, परन्तु खतरा मालूम होते ही उन्हे सिकोड लेता है । उसी तरह जहा खतरा हो वहा से तुम अपनी इद्रियो को भीतर खीच लो । जहा उनका पारमार्थिक उपयोग होता हो वहा उन्हे खुला रहने दो । यह साधन और भी सुगम है । जहा खतरा दीखे वहा पीछे हट जाओ । जहा खतरा न हो वहा आजाद छोड दिया । इससे ज्यादा सुगमता और क्या हो सकती है ? यह तो पशु भी समझ सकता है । इसीसे कछुए का उदाहरण दिया है । जब कछुआ जैसा जानवर भी इस तरह बर्तता है तब आप-हम तो मनुष्य हैं, यह गीता की ध्वनि है ।

[२]

२७. इन्द्रियनियमन वस्तुतः कठिन नहीं है ।

परन्तु जो बात यहा सुगम बताई गई है वह भी हमें कठिन मालूम होती है। असल मे इसका ताल्लुक आदत से है । छोटे बच्चे को यदि शुरुआत से ही ऐसा अभ्यास कराया जाय तो गीता उसका स्वभाव ही बन जायगी । बात सिर्फ अभ्यास-आदत की है । कहते है, गीता तो मनुष्य-स्वभाव के विरुद्ध

चलने के लिए कहती है। बिलकुल नही। छोटे बच्चे की नैसर्गिक रुचि शुद्ध ही रहती है। हम जबरदस्ती उसकी जीभ में अट-शट पदार्थों की रुचि उत्पन्न करते है। उसकी रुचि को विकृत व कृत्रिम बनाते है। गीता कहती है कि छोटे बच्चे को स्वभावत जो अच्छा लगता है, व सुलभ है, वही तुम करो। हम छोटे बच्चो को कुशिक्षा देकर पहले उनकी रुचि बिगाड देते है। अत फिर उसे इससे उलटी शिक्षा देकर सुधारना पडता है। पहले तो कुशिक्षा देकर इद्रियो को नखरीला बनाया जाता है, इसलिए फिर उन्हे काबू में रखना कठिन मालूम होता है। यदि शुरू से ही अच्छी आदत डाली जाय तो इद्रिय-सयम बडा सुलभ हो जाय। ज्ञानदेव कहते है, "मेरी इद्रियो का स्वभाव ही ऐसा हो गया है कि जो न देखना चाहिए उसकी तरफ आख ही नही जाती, जो सुनने योग्य नही है उसे कान सुनते ही नही।" यह बात कठिन क्यो लगनी चाहिए? यदि यह मालूम हो जाय कि यहा आग है तो क्या हाथ उस तरफ जायगा? बल्कि यदि आग में हाथ डालने का ही अवसर आ जाय तो बहुत सोच-विचार के मन को कडा करके ही डालना होगा। इसी तरह हमारे मन को जहा निश्चय हो जाय कि यहा खतरा है तो उधर इद्रिया जायगी ही नही। वास्तव में तो खतरे की जगह इन्द्रियो को ढीला छोडना ही कठिन मालूम होना चाहिए। परन्तु कुशिक्षा ने हमारी स्थिति इसके बिलकुल विपरीत कर डाली है। जो कठिन या अस्वाभाविक है वही हमें सहज और सरल मालूम होता है। उसका गीता क्या करे? गीता ने तो ऐसा एक साधन बता दिया है जो उसकी दृष्टि से एक बच्चे के लिए भी सहल है। इसमे कोई सदेह नही कि समाज की अवस्था यदि स्वाभाविक हो तो उसमे इद्रिय-जय कठिन न मालूम होगा।

२८. इन्द्रिय-नियमन के दो प्रकार : संयम व निग्रह।

पर इद्रिय-जय की दो विधिया बताई जाती है—इन्द्रिय-सयम व इन्द्रिय-निग्रह। इन दो प्रकारो का थोडा विचार कर ले। इद्रिय-निग्रह कुछ समय के लिए होता है। इद्रिय-सयम सारे जीवनका तत्त्व है। जैसे, मान लीजिये,

मुझे मीठा खाने का शौक है। मीठा खाना तो बुरा है नही। हा, मीठे का मोह अलबत्ते बुरा है। अत मैं कुछ समय के लिए मीठा खाना बिलकुल बन्द कर देता हू। इसमे मन्शा यह है कि अपने को अभ्यस्त करू, आदत लगाऊ, अपनी रुचि का दमन करू। इद्रियो को दान्त करने के लिये, काबू में लाने के लिये कुछ समय तक हम उनका निग्रह करते है। मीठा खाना ही तो गुनाह नही है। आरोग्य के लिए कुछ मीठा खाना आवश्यक भी ो सकता है, परन्तु मीठे के शौक को अपने बस मे करने के लिए कुछ समय तक मैंने उसका निग्रह किया। उसके बाद मैं फिर मीठा खाने लगता हूं; परन्तु सभल कर व तौल कर। इसे सयम कहेगे। इसी तरह मौन का उदाहरण लीजिये। मौन कुछ काल तक करने का साधन है। मित-भाषण नित्य के लिए साधन है। इसी तरह उपवास नैमित्तिक साधन है। नियमित व निश्चित खान-पान करना नित्य साधन है। मनुष्य की आजमाइश भी इसीमें है। गुजराती मे एक मार्मिक कहावत है 'माणसनी परीक्षा खाटले ने पाटले'। पाट पर व खाट पर अर्थात् भोजन के समय व बीमारी के समय ही मनुष्य की परीक्षा होती है—भोजन व बीमारी ये ऐसे अवसर है जब मनुष्य के स्वभाव के सभी दोष प्रकट हो जाते है। मनुष्य एक बार बेशुमार खा सकता है, या कभी बिलकुल ही भूखा रह सकता है, परन्तु तौल कर उचित मात्रा मे खाना नही सधता। दोनो सिरे सध जाते है, परन्तु मध्यम अवस्था नही सधती। इद्रियो को मध्य मे रखना सयम है। जब कभी उसके लिए उन्हे दूसरे सिरे पर ले जाना पडता है तब वह निग्रह हुआ। निग्रह का भी लाभ स्पष्ट ही है, परन्तु वह नित्य-धर्म नही है।

२९. उसका और अधिक विवरण।

हमने जो यह भेद किया है कि निग्रह प्रासगिक है और सयम नित्य है, यह सिर्फ तारतम्य से उनके अन्दर-ही-अन्दर किया है, ऐसा समझना चाहिए, क्योकि थोडा विचार करने से यह जाना जाता है कि निग्रह भी सयम की तरह नित्य हो सकता है। हमने देखा कि उपवास प्रासगिक व मिताहार नित्य है। परन्तु मान लीजिये कि किसी व्यक्ति ने रोज फलाँ वक्त ही

खाने का नियम किया है—और नियम वनाना इष्ट भी होता है—अब बीच में ही यदि किसीने उसे कुछ खाने को दिया तो वह नही खायगा। यह निग्रह हुआ, परन्तु यह साफ है कि वह प्रासगिक नही, नित्य का है। यही वात मौन की है। मौन आमतौर पर प्रासगिक तो होता है; परन्तु वाणी का निग्रह करने के अवसर रोज आ सकते है। किसी मनुष्य ने कुछ कह दिया तो उसका उत्तर देने के वदले अपने वोलने के वेग को रोक लेना ही वहुत वार जरूरी हो जाता है। वाणी का यह ऐसा निग्रह रोज की वात ही हो गई। इसका यह अर्थ हुआ कि निग्रह व सयम का अभ्यास वस्तुत रोज ही करना पडता है। उसमे हमने जो फर्क किया है वह केवल तारतम्य से। वास्तव में तो दोनो मूलत एक ही है। निग्रह व सयम दोनो में एक वस्तु समान है—अपने पर अकुश। सार यह कि सयम व निग्रह का सूक्ष्म भेद समझ कर उसे भूल जाना ही अच्छा है, परन्तु 'निग्रह' शब्द के सम्वन्ध में कुछ और सफाई करना जरूरी है। निग्रह में वलात्कार का भाव तो नही आता !—ऐसा सदेह होता है। परन्तु 'इद्रिय-निग्रह' शब्द में ऐसा वलात्कार नही सूचित किया गया है। शब्द को अर्थ का वोझ नही लगता। अत वह अनेक अर्थों में यथाप्रसग व्यवहृत होता है।

३०. इन्द्रिय-जय का गीता की दृष्टि में महत्त्व।

यहा स्थितप्रज्ञ का मुख्य लक्षण व उसके तीन विवरण समाप्त हुए। अगले दस श्लोको में इस विवरण में से अन्त के क्रियात्मक सुलभ साधन का, इद्रिय-जय का, व्याख्यान है। गीता ने इसे इतना महत्वपूर्ण समझा है कि अनेक अध्यायो में स्थान-स्थान पर उसका विवेचन किया है। तीसरे अध्याय में कर्मयोग का विवेचन कर चुकने के वाद 'इद्रिय-जय' पर एक स्वतन्त्र प्रकरण ही लिखा है। यहाँ इसके आगे अव इस विषय का विज्ञान और तत्त्वज्ञान दोनों वताना है। 'कैसे' का उत्तर विज्ञान देता है। 'क्यो' को तत्त्वज्ञान हल करता है। द्रिय-निग्रह कैसे करें, व क्यो करें, अर्थात् प्रज्ञा की स्थिरता से उसका क्या सम्वन्ध है, ये दोनो मीमासाए अव हम आगे करने वाले हैं।

चौथा व्याख्यान

[१]

३१. इन्द्रिय-जय के विज्ञान की प्रस्तावना ।

जिन्हे स्थितप्रज्ञ के लक्षण कहना चाहिए, वे वस्तुत पहले चार श्लोको में ही पूरे हो गये। इसके बाद अब इन्द्रिय-निग्रह का विज्ञान व तत्त्वज्ञान समझना है। पहले तीन श्लोको मे विज्ञान बताया जायगा। अबतक उत्तरोत्तर सुगम साधन बताये गए। (१) पहले कहा—कामना ही छोड दो। (२) फिर कहा—कामना का परिणाम मत होने दो, तृष्णा, क्रोध व भय इनमें उनका पर्यवसान मत होने दो। (३) फिर बताया—परिणाम हो भी तो उसे अपने काबू में रखो, बुद्धि पर उसका आक्रमण मत होने दो। और (४) अन्त में कहा कि इद्रियो को ही रोको। इस तरह भिन्न-भिन्न व्यूहो के द्वारा उनका विवरण किया। यह इसलिए कि साधना का श्रीगणेश कैसे करे, यह दिखा दिया जाय। इसका यह अर्थ हरगिज नही कि साधना की अन्तिम सीढी तक पहुचे बिना स्थितप्रज्ञता प्राप्त हो जायगी। अन्त में इन्द्रियो को वश मे रखने का तो सिर्फ इसलिए कहा गया है कि वह सबमें सुलभ साधन है, परन्तु निग्रह व सयम दोनो अर्थों में इद्रिया वश में कर लेने पर भी, इतने से ही मनुष्य स्थितप्रज्ञ नही हो सकता। यही क्यो, बल्कि इतने से तो इन्द्रिय-जय भी पूरा नही होता। जब इन्द्रियो पर हम काबू पा जायगे तो फिर उनका सहारा लेकर भीतर की सारी कामना ही काटकर फेंक देना है। मै जैसा सकल्प करूगा वैसा ही इद्रिया आचरण करेगी, इस अनुभूति से प्राप्त शक्ति के सहारे कामना का बीज ही मिटा देना है। जब यह कामना-बीज नष्ट हो जायगा तभी हम सम-

झेंगे कि इन्द्रिय-निग्रह सफल हुआ। इन्द्रिय-निग्रह का हमारा माप इतना सूक्ष्म है, और वही अब एक श्लोक मे बताया जाता है। इन्द्रिय-निग्रह-विज्ञान का यह आरम्भ है।

३२. निराहार प्राथमिक साधना, रस-निवृत्ति-पूर्णता

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिन ।
रसवर्ज रसोऽप्यस्य पर दृष्ट्वा निवर्तते ॥

"निराहार की साधना से विषय छूट जाते है, परन्तु उसका रस बाकी रह जाता है। वह भी फिर पर-दर्शन से निवृत्त होता है।" यह इस श्लोक का भावार्थ है। विषय छूट गये, विषयो से इन्द्रियो को हटा लिया तो इतने ही से यह न समझना चाहिए कि इन्द्रिय-जय पूर्ण हो गया। 'निराहार' शब्द के आहार का अर्थ 'रसना का आहार' तो है ही, परन्तु इसके अलावा 'सब इन्द्रियो के भोग' ऐसा व्यापक अर्थ भी ग्रहण करना होगा। अर्थात् यह शब्द यहा उपलक्षणात्मक है। इन्द्रियो के आहार का निग्रह—यह प्राथमिक साधना है। इससे साधना समाप्त नही हो जाती। वह तो सिर्फ शुरू हुई ह। बाह्य इन्द्रिय-निग्रह हो जाने से अब भीतरी रस छोडने की तैयारी करने की योग्यता व शक्यता प्राप्त हुई। वास्तविक अर्थात् आन्तरिक साधना की शुरूआत हो गई। भीतरी रस जब चला जायगा तभी साधना पूरी होगी। बाह्य इन्द्रिय-निग्रह भीतरी रस छोडने की शक्यता उत्पन्न करता है, इसीलिए गीता ने स्थितप्रज्ञ के लक्षणो में उसका समावेश किया है।

३३. पूर्ण व्याख्या के साथ ही प्राथमिक साधना दिखा देने वाली गीता की गुरु-दृष्टि।

तत्त्वज्ञानी मनुष्य की दृष्टि से कहना हो तो सिर्फ इतना ही बता देना काफी है कि सभी कामनाए छोड दो। आरम्भ की स्थितप्रज्ञ की व्याख्या तत्त्वज्ञानी की भाषा में की गई। परन्तु तत्त्वज्ञानी का ढग और है व शिक्षक का ढग और। शिक्षक विद्यार्थी की

भूमिका व अधिकार का खयाल करके बताता है। वह यह तो जताकर कह देता है कि अन्तिम साधना पूर्ण हुए बिना डिप्लोमा नही मिलेगा, परन्तु उसके साथ ही यह भी बताता है कि आजका पाठ क्या होगा। अर्थात् एक ओर शास्त्रीयता को कायम रखकर दूसरी ओर दयालु होकर उसे ऐसा भी साधन बताता है जिससे विद्यार्थी को आशा मालूम होती है व धीरज बधता है। गीता की पद्धति भी इसी प्रकार वत्सलता-पूर्ण है। कछुए का उदाहरण पहला पाठ है। एक पाठ के बाद दूसरा पाठ इस तरह गुरु-माता के वात्सल्यानुसार गीता एक-एक कदम आगे ले जाती है। दयालु सन्तो ने तो यहा तक आश्वासन दे दिया है कि जिसने भक्तिपूर्वक एक बार भी ईश्वर का नाम ले लिया वह भी मोक्षाभिमुख हो गया। उसका मुह सही दिशा की ओर हो गया। यह बात नही कि इससे वह मजिल पर पहुच गया, परन्तु दिशा हाथ लग गई तो आशा मालूम होने लगती है। आशा वढाते-बढाते ठेठ मुकाम तक पहुचा देना गुरु-दृष्टि की विशेषता है।

३४. प्राथमिक साधना स्पष्टतः ही अपूर्ण, परन्तु इस लिए ढोंग नहीं।

असल मे कहना यह है कि जबतक भीतर का रस नष्ट न हो तबतक प्रयत्न जारी रखना चाहिए, किन्तु तबतक क्या करे ? तबतक बाहर से इन्द्रियो को तो रोकना ही है। इसपर कुछ लोग कहते है, यह तो ढोग हुआ। सो, जिन्हे आत्मनाश करना हो वे ऐसे तार्किको के चक्कर में फसे। यदि कोई साधक पर ढोग का इल्जाम लगाना ही चाहे तो वह उसी समय सावित हो जायगा, क्योकि साधना पूर्ण होने तक उसका केवल प्रयत्न ही जारी रहने वाला है। तबतक उसकी मनोऽवस्था और आचार में फर्क दिखाई ही देगा। वह प्रार्थना मे वैठेगा तो भी मन इधर-उधर दौडता रहेगा। तो कहते है— "वह प्रार्थना ही न करे। प्रार्थना तो ढोग है।" साधक पर ऐसा आरोप उसी समय सावित होगा जव यह सिद्ध किया जा सके कि वह लोगो को दिखाने के लिए प्रार्थना का दिखावा करता है। पर वह ऐसा तो करता नही। जव ढोग

की नीयत न हो तो उसे ढोग कैसे कहेगे ? कोई-कोई गीता के इसी श्लोक से अर्थ निकालना चाहते है कि जबतक मन वशीभूत न हो सके तबतक इन्द्रियो को रोकना ढोग है, परन्तु वह ठीक नही है। 'रसस्त्वस्य पर दृष्ट्वा निवर्तते' यदि ऐसी भाषा होती तो शायद ऐसा अर्थ किया भी जा सकता था, परन्तु यहा तो 'रसोऽपि' कहा है। 'अपि' शब्द से इन्द्रियो को वश में रखने का भी महत्त्व सूचित हो जाता है। परन्तु इतने से साधना पूर्ण नही होती, रस अर्थात् स्वाद निर्मूल होना चाहिए। यहा तक अर्थ उसमें भरा हुआ है। जबतक रस नही जाता तबतक जो इन्द्रिय-निग्रह होगा उसे चाहे तो 'मिथ्या' कह सकते हैं, पर ढोग तो हरगिज नही। इन्द्रिय-निग्रह का स्थूल व सूक्ष्म इस तरह दुहेरा अर्थ है। दोनो प्रकार का निग्रह करके अन्त को उसे स्थितप्रज्ञ की मूल व्याख्या तक जा पहुचाना है।

३५. साधना की पूर्णता पर-दर्शन, अर्थात् आत्म-दर्शन।

जबतक भीतरी रस नही जाता तबतक सूक्ष्म अर्थ में इन्द्रिय-निग्रह नहीं सध सकता। यह रस कैसे जाय ? इसका उत्तर दिया है पर-दर्शन से, आत्म-दर्शन से। परतत्त्व का अर्थ है—सबसे पल्ले पार का तत्त्व। वस्तुत वह तत्त्व सबसे पल्ले पार का नही, बल्कि बिलकुल इस पार का है। वह पर-तत्त्व नही, स्व-तत्त्व है, परन्तु उलटी ही भाषा प्रचलित हो गई है। इसका कारण यह है कि हम शरीर से अर्थात् बाह्यतत्त्व से गिनती शुरू करते है। शरीर सबसे बाहरी है, उसे सबसे नजदीक का मानते हैं। उसके बाद मन, उसके बाद बुद्धि और बुद्धि के भी बाद आत्मा—ऐसी उल्टी गिनती से जो सबसे नजदीक का है वह सबसे दूर का हो रहता है। "इन्द्रियाणि पराण्याहु, इन्द्रियेभ्य पर मन " इत्यादि वचनो में गीता ने ऐसी ही भाषा को अपनाया दीखता है। परन्तु वहा 'पर' शब्द का अर्थ 'श्रेष्ठ' अथवा 'सूक्ष्म' समझना है। सबसे सूक्ष्म, सबसे श्रेष्ठ, सबसे पास, आत्मा है। उसका दर्शन हुए बिना इन्द्रिय-निग्रह पूरा नही होता। अर्थात् जो बात पहले श्लोक में कही थी वही लाकर फिर छोड दिया।

[२]

३६. इन्द्रियों का उद्दाम या जबरदस्त स्वभाव : एतद्विषयक मनु का वचन।

इसपर कोई कहेगा कि "वाह! उत्तरोत्तर सुगम साधन बताता हू, ऐसा आश्वासन देकर हमको अच्छा फसाया। पहले मिठाई दिखाकर फिर डण्डा दिखाया। भीतरी रस, मिठास, स्वाद छोडना कोई मामूली बात है ? यह कैसे सधेगा ?" इसीकी प्रक्रिया अब बतानी है, परन्तु इससे पहले आक्षेपकों द्वारा किया आक्षेप ही भगवान् एक श्लोक में दृढ करते है।

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चित ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभ मन ॥

इसका अर्थ है—"प्रयत्नशील और विचारवान् मनुष्य तक की इन्द्रियां उस ओर ज़ोर मारकर उसके मन को खीच ले जाती है।" ऐसा ही एक वचन मनु का भी है। अनेक लोग उसका व गीता के इस श्लोक का एक ही अर्थ करते हैं। "मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा, न विविक्तासनो भवेत्। बलवान् इन्द्रियग्रामो विद्वासमपि कर्षति।" यह मनु का वचन है। इसका भावार्थ है—"मनुष्य को चाहिए कि वह मा, बहिन व लडकी के विषय में भी सावधान रहे; क्योकि इन्द्रिया बलवान होती है और मौका पडने पर विद्वान को भी खीच ले जाती है।"

३७. मनु की व गीता की भूमिका समान नहीं।

परन्तु मनु के इस वचन का मेल, सच पूछिए तो, गीता के वाक्य के साथ नही बैठ सकता। मनु ने साधारण मनुष्य के लिए व्यवहार की सामाजिक मर्यादा बताई है। गीता में आध्यात्मिक दृष्टि से विवेचन किया गया है। "मनुष्य को अपने पर जरूरत से ज्यादा विश्वास न रखना चाहिए। बाद्यत भी इन्द्रिय-निग्रह उससे हो ही सकेगा, यह नही कह सकते।" यह आशय मनु का है। उन्होने सर्व-साधारण के लिए अपनी दृष्टि से व तत्कालीन

परिस्थिति के अनुसार एक सुरक्षित सामाजिक नियम बतलाया, किन्तु गीता का वाक्य साधक के लिए है, और उसमें ऐसा अविश्वास नही दिखाया गया है। गीता साधको से यह नही कहना चाहती कि तुमसे स्थूल अथवा बाह्य इन्द्रिय-निग्रह भी नही सध सकता। यहा यह गृहीत किया गया है कि इन्द्रियो को बाह्यत रोककर हम निराहार हो सकेगे। गीता मानती है कि हम चाहे तो विषयो से इन्द्रियो को हटा सकते है। इतना ही नही, बल्कि ऐसा कहती है कि अवश्य ऐसा करना चाहिए। मनु तो इतनी भी अपेक्षा नही रखते। वह तो केवल साधारण मनुष्य को सावधानी का एक सकेत करके छुट्टी पा लेते हैं। लेकिन यहा गीता का आशय भिन्न है। यहा यह आध्यात्मिक विचार पेश किया गया है कि इन्द्रियो को विषयो से हटा लेने पर भी वे हार न खाकर उलटा मन पर हमला करती है। बाहरी विषयो से इन्द्रिया हटा ली तो भी वे मन में आसन जमाकर बैठ जाती है। इससे इच्छा न रहते भी मानसिक विषय-सेवन होने लगता है। ऐसा होने से सूक्ष्म अर्थ में इन्द्रिय-निग्रह नही होता—इतना ही गीता का कहना है।

३८. ज्ञानी व प्रयत्नवान् मनुष्य के भी मन को इन्द्रियां खींच सकती है।

जो अच्छी तरह विचार-पूर्वक प्रयत्न करता है उसका भी यह हाल हो जाता है। "यततो ह्यपि, विपश्चित अपि" इस तरह 'अपि' शब्द दोनो जगह लेना है। 'विपश्चित्' शब्द मे 'विप ' और 'चित्' ये दो शब्द है। 'विप ' 'विप्' शब्द की द्वितीया का बहुवचन है। 'विप्' ज्ञानार्थक धातु है। यही 'विप्र' शब्द में है। 'विप्र' यानी ज्ञानी। 'विपश्चित्' यानी अनेक ज्ञानो को जानने वाला, ज्ञाता। 'ऐसा ज्ञाता भी है और प्रयत्नशील भी है, किन्तु उसके लिए भी सूक्ष्म इन्द्रिय-जय साधना कठिन होता है, क्योकि इन्द्रिया उसके भी मन को लुभाना चाहती है।' ऐसा भाव यहा गीता का है।

३९. परन्तु ज्ञान व तितिक्षापूर्वक प्रयत्न, यही दो शक्तियां मनुष्य के पास हैं।

ज्ञान व तितिक्षापूर्वक प्रयत्न, यही दो शक्तिया मनुष्य के पास है, तीसरी कोई शक्ति उसके पास हई नही। अब यदि यह कहा जाय कि मनुष्य को उपलब्ध ये दोनो शक्तिया लगा देने पर भी इन्द्रिया सिरजोर होकर मनमे आसन जमा लेती है तो फिर मुश्किल ही समझना चाहिए। यत्नवान् विपश्चित् पुरुष का अर्थ हुआ तत्त्वज्ञान व तितिक्षा इन दोनो शक्तियो से सम्पन्न पुरुष। दूसरे अध्याय मे आरम्भ मे ही इसी पुरुष को 'धीर' सज्ञा दी गई है। 'धीर' का अर्थ दो तरह से किया जाता है। 'धी' अर्थात् बुद्धि और 'धीर' यानी बुद्धिमान्, ज्ञानी। परन्तु अकेले ज्ञान से साधना पूरी नही होती।

पांचवां व्याख्यान

[१]

४१. मनु व गीता के वचनों का अधिक विवरण।

कल मनु व गीता के वचनो का फर्क हमने देखा था। आज उसे और ज्यादा स्पष्ट कर ले तो अच्छा। मनुष्य की बुद्धि व इन्द्रियो के बीच मे मन है। अत जो इन्द्रियो पर काबू पाना चाहता है वह मन पर भी काबू पाना चाहता है, परन्तु मन पर काबू आसानी से नही पाया जाता। इसलिए गीता कहती है कि पहले इन्द्रियो को वश मे करो। इसका यह अर्थ नही कि ऐसा कर लेने से मन वश में हो ही जायगा, वल्कि इन्द्रिया जव विषयो से अलग पड जाती है तव मन पर हमला करती है। साधक इस वात को जानता है। वह अपने को मन से अलग करके देखता है। वह जानता है कि मन पर हमला हो रहा है। वह मन के अधीन नही होता। उससे सहयोग भी नही करता। गीता की भाषा में यह भाव सूचित किया गया है। "हरन्ति प्रसभ मन" इन्द्रिया ज़वरदस्ती उसके मन को खीच ले जाती है। यह नही कहा कि उसीको खीच ले जाती है। साधक का मन इन्द्रियो के साथ खीचा जाता है, साधक नही खीचा जाता, परन्तु मनु ने अलवत्ता ऐसा नही कहा है। वह कहते है—"ये जवरदस्त इन्द्रिया विद्वान् को भी खीच ले जाती है। उसके मन को ही नही, वल्कि खुद उसीको खीच ले जाती है।" "विद्वासमपि कर्षति।" इन्द्रियोको रोककर रखते-रखते भी वे मन पर हमला करती है। अत ऐसा उपाय करना चाहिए कि उनका आक्रमण मन पर न होने पावे, पर प्रयत्नशील विद्वान् के लिए भी यह कठिन होता है, अर्थात् साधक की यह विचली अवस्था गज-ग्राह जैसी होती है। मन विषय की

ओर दौडता है। साधक उससे सहयोग नही करता, किन्तु वह ऐसी स्थिति प्राप्त करना चाहता है जिससे मन उनकी ओर जाय ही नही। उसका सारा तत्त्व-ज्ञान और तीव्र प्रयत्न भी इसमें नाकाफी सावित होता है। सवाल होता है कि तव किया क्या जाय ? इसीका उत्तर अगले श्लोक में दिया है ।

४२. युक्तिपूर्वक जितना हो सके इन्द्रिय-निग्रह करके जव अपना बल नाकाफी हो तो भक्ति का आवाहन करो।

"तानि सर्वाणि सयम्य युक्त आसीत मत्पर ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।।"

युक्त मन् तानि सर्वाणि सयम्य मत् पर आसीत—ऐसा अन्वय करना चाहिए। युक्तिपूर्वक सव इन्द्रियो का सयम करके ईश्वर-परायण होकर रहे। ज्ञान व तितिक्षा के वल पर इन्द्रियो को वश में कर ही लेना चाहिए। जहा जरूरी हो वहा निग्रह व जहा आवश्यक हो वहा सयम करने की युक्ति साध ही लेनी चाहिए। इस तरह पहले युक्तिपूर्वक इद्रियो को वश में कर लो, यह कहा है। निग्रह व सयम दोनो का सग्राहक एक ही शब्द है 'निरोध'। गीता कहती है कि ज्ञान व तितिक्षा के वल पर निरोधशक्ति प्राप्त करो, परन्तु इस तरह वडी युक्ति से इन्द्रिय-निरोध करने पर भी जवतक मन वश में न हो जाय तवतक निरोध पूरा नही समझा जा सकता। मनोनिरोध के लिए मानवी वल नाकाफी होता है। यही से भक्ति की शुरुआत होती है।

४३. भक्ति की आवश्यकता।

जव व जहा मनुष्य की पुरुषार्थ-शक्ति कुण्ठित होती है, टूट जाती है, तभी भक्ति की आवश्यकता उत्पन्न होती है। परिपूर्ण प्रयत्न किये विना भक्ति के लिए गुजाइश नही है। ईश्वर ने जो शक्ति हमे दे रखी है उसे पूरा-पूरा इस्तेमाल करने मे ही हमारी नम्रता व आस्तिकता है। हमारे अन्दर जो शक्ति वसती है, वह 'वासुदेव' शक्ति है। वह ईश्वर की ही शक्ति है, वह उसने हमें पहले से ही दे रखी है। कुछ शक्ति उसने हमे दे रखी

है, कुछ अपने पास रख छोडी है। यह जो देवदत्त शक्ति है उसे हम स्व-शक्ति समझते है, यह हमारी भूल है। वस्तुत वह ईश्वर की ही शक्ति है। इसके विपरीत ईश्वर ने जो शक्ति अपने पास रख छोडी है, वह भी हमारी ही है। अपने पास की शक्ति के खर्च हो जाने पर ही उस शक्ति को मागने का अधिकार प्राप्त होता है।

४४. प्राप्त शक्ति का पूर्ण उपयोग कर लेने पर ही ईश्वर से अधिक शक्ति मांगने का अधिकार है।

जो शक्ति हमे प्राप्त है उसको यदि हमने पूरा-पूरा इस्तेमाल न किया, तो फिर अपनी शेष रखी हुई शक्ति ईश्वर हमें दे भी कैसे ? बाप ने बेटे को व्यापार के लिए १० हजार की पूजी दी। उसने उससे काम नही लिया तो बाप उसे एक लाख की पूजी कैसे देगा ? यदि पहली पूजी को वह अच्छी तरह काम में लाकर दिखा देगा तो बाप कहेगा—"यह बाकी सब तुम्हारी ही है।" हमारा व ईश्वर का सम्बन्ध ऐसा ही है। वह अपने पास की सारी शक्ति हमें दे देने के लिए तैयार है, परन्तु उसकी आवश्यकता अलबत्ते सिद्ध होनी चाहिए। यदि किसीने जो-जो शक्ति उसे मिलती जाती है उसे काम में लाते-लाते यह साबित कर दिया कि उसे ईश्वर की सारी ही शक्ति चाहिए तो इससे ईश्वर को आनन्द ही होगा। वह कहेगा—"वाह, ऐसा ही उद्योगी भक्त तो मुझे चाहिए था।" परन्तु ससार मे ऐसा कोई कार्य ही नही उत्पन्न हुआ जिसके लिए ईश्वर की तमाम शक्ति की आवश्यकता हो। अत मनुष्य जितनी शक्ति की आवश्यकता सिद्ध करेगा उतनी उसे ईश्वर से बिला दिक्कत मिलती रहती है। मनुष्य को कभी भी निराश होने की या हार मानने की आवश्यकता नही है। वह अपने पास की सारी शक्ति लगा देगा तो उसे अधिक शक्ति अवश्य ही मिल जायगी। अपने पास की शक्ति को पूरा-पूरा लगाये विना भगवान् से यदि मदद मागे तो उसे क्यो देनी चाहिए ? भगवान् को अपनी करामात दिखाकर खुद अपनी कीर्ति तो बढाना है नही। उसकी कीर्ति में अभी कुछ बढती होना बाकी है क्या ? वह तो परिपूर्ण ही है। वह तो

तुम्हारा ही वैभव व यश बढाना चाहता है। तुम अपनी सारी शक्ति लगाकर प्रयत्न करो। जब थकने लगो तो ईश्वर को पुकारो, वह तुम्हे और बल देगा।

४५. इसके लिए गजेन्द्र का संशोधित दृष्टांत

गजेन्द्र-मोक्ष का उदाहरण देते हुए भक्ति-मार्ग में यह बताया जाता है कि पहले गजेन्द्र ने अपनी शक्ति से विजय प्राप्त करने का प्रयन्न किया। अत भगवान् उसकी सहायता के लिए नही आये। उसे अपनी शक्ति का अहकार था। यदि गजेन्द्र को अपनी शक्ति का अहकार था तो ईश्वर ने उसका गर्व परिहार होने के बाद ही उसकी सहायता की, यह अच्छा ही किया, परन्तु फर्ज कीजिए कि एक ऐसा गजेन्द्र है जिसे अपनी शक्ति का अहकार नही है, परन्तु अपने बल को काम में न लाके वह भगवान् से मदद मागता है तो इसमें अपने पास की शक्ति को न लगाने की हठ अहकार ही तो है। उसके पास जो बल है उसे वह क्यो न लगावे ? वह बल उसका अपना तो है नही ? है तो वह भगवान् का ही दिया हुआ। मेरा बल भी भगवान् का ही है, ऐसी भावना से स्वशक्ति लगाना अहकार नही हो सकता। उलटे अपने पास का बल न लगाना अहकार, आलस्य और अश्रद्धा है। जो शक्ति तेरी नही है उसे तो तू रख छोडता है और फिर भगवान से सहायता मागने जाता है। अपने अन्दर जो भगवान की शक्ति मौजूद है उसे निरहकार होकर पूरा-पूरा लगा देख और फिर अधिक शक्ति का आवाहन कर। जो शक्ति पास है उसे अच्छी तरह लगा लोगे तो जो नही है वह ईश्वर अवश्य देता है।

४६. ईश्वर-शरणता में पराधीनतां नहीं है।

परतु इसमें भी आखिर तो ईश्वरपर ही भरोसा रखकर रहना पडता है। अत कोई कहेंगे कि यह तो कुल मिलाकर पराधीनता ही हुई। परन्तु ऐसा कहना ठीक नही है, क्योकि यो देखा जाय तो जहा हमारी शक्ति खतम हुई कि वही पराधीनता आ गई, परन्तु ईश्वर की शक्ति का आवाहन करना सचमुच में पराधीनता नही है। ईश्वर को यदि पराया मानें तो वह पराधी-

नता होगी, परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नही है। कोट की जेब में दो हिस्से कर लिये और दोनो मे पैसे भरकर रख लिये। ऊपर के हिस्से के पैसे खर्च हो जाने पर अन्दर के हिस्से से निकाल लिये। दोनो हिस्से है तो अपनी ही जेब के न ? अथवा कुछ रुपये तुम्हारी अपनी ट्रक मे है, व कुछ बैंक मे जमा है, ऐसा ही समझ लो। ईश्वर और हम दोनो एक ही चैतन्य के रूप है। हम अशमात्र है। ईश्वर उस चैतन्य का पूर्णरूप है। तो भी चैतन्य तो एक ही है। अत जो उसकी शक्ति है वही हमारी शक्ति है। इसलिए ईश्वर से शक्ति मागने व प्राप्त करने मे पराधीनता नही है।

[२]

४७. स्थूल सांसारिक कार्य ईश्वर की सहायता के विषय नहीं।

मनोनिरोध-सम्बन्धी प्रयत्नो की पराकाष्ठा हो जाने पर भक्ति का स्थान आता है और हमने देखा है कि तभी उसकी आवश्यकता भी उत्पन्न होती है। अपना प्रयत्न थकने पर ही हम दूसरी सहायता के लिए बेचैन हो उटते हैं। इस व्याकुलता मे से ही भक्ति का जन्म होता ह। इससे पहले व्याकुलता नही होती। इसीसे भक्ति भी नही रहती। श्रद्धा हो सकती है। सो पहले अपनी शक्ति लगाकर इन्द्रियो को वश में कर लो। विषयो से अलग हुई इन्द्रिया जब मन पर धावा करने लगे तब उस सूक्ष्म आक्रमण के प्रतिकार के लिए ईश्वर से सहायता मागो। ऐसे सूक्ष्म व पवित्र कार्य मे ही ईश्वर की सहायता मागना आस्तिकता कहलाती है। लोगो में यह रिवाज पड गया है कि साधारण व्यावहारिक कार्यों में भगवान् से मदद मागे। ऐसो को हम आस्तिक कहते हैं, परन्तु सच पूछिए तो यह आस्तिकता नही है। परीक्षा पास होने के लिए ईश्वर की सहायता मागना कौनसी आस्तिकता है ? यह तो कम-अकली है, पुरुषार्थहीनता है। खेत मे फसल अच्छी नही आई, करो ईश्वर से प्रार्थना, मागो ईश्वर से मदद, मानो इन सब प्रश्नो को हल करने की शक्ति हमे ईश्वर

ने दी ही नही ! ये ईश्वर की सहायता के विषय ही नहीं है। सकाम भावना से वाह्य कार्यों मे ईश्वर की महायता मागना हमें शोभा नही देता।

४८. ईश्वर से याचना मागने की उचित रीति।

'युद्ध में हमारी विजय हो'—ऐसी प्रार्थना दोनो पक्ष वाले करते है। अव ईश्वर वेचारा खुद भी तो अपनी इच्छा रखता है। दोनो को विजय कराना उसके लिए शक्य नही, परन्तु मै उसे अपनी इच्छा का गुलाम मानता हू। मैं आशा रखता हू कि वह मेरी इच्छा के अनुसार अपनी दैवी शक्ति लगावे। उसकी इच्छा के अनुकूल अपनी इच्छा को वनाना आस्तिकता है। परन्तु मै इसके विपरीत ही करता हू। मैंने अपनी यह इच्छा निश्चित ही कर डाली है कि मेरी विजय हो। सिर्फ उससे विजय की प्रार्थना भर करता हू। सच पूछिए तो प्रार्थना ऐसी करनी चाहिए।—"यदि मेरा पक्ष न्याय का हो तो मेरी विजय हो, नही तो मेरी हार होने दे, जिससे मेरी वुद्धि तो शुद्ध होगी।" एक भारतीय आख्यायिका है। अधे धृतराष्ट्र की सहानुभूति में गाधारी ने अपनी आखो पर पट्टी वाध रखी थी। उसका पुत्र दुर्योधन युद्ध के लिए रवाना होने से पहले उसके पैर छूने आया तो उसने आशीष दी—"तू सन्मार्ग पर चल रहा हो तो तेरी विजय हो।" यही सच्चा आशीर्वाद है। "भगवान्, मेरी खोई हुई चीज मुझे ला दे"—ऐसी प्रार्थना भगवान् से क्या करना है ! प्रार्थना यही करनी चाहिए—"वस्तु मिले या न मिले, पर मेरी शान्ति न डिगे।" वच्चा वीमार हो गया तो प्रार्थना करने लगे—"मेरा वच्चा न मरे।" यह क्या प्रार्थना हुई ? मनुष्य कभी-न-कभी तो मरता ही है। यह निश्चित वात है। अव यदि ऐसी प्रार्थना करते है कि वह न मरे तो फिर यह ठहराना होगा कि फला वक्त मरने मे हर्ज नही। अव नही, २८ ता० को मरे— ऐसी निश्चित प्रार्थना भगवान् से करो। पर ऐसी याचना करता कौन है ? अत मागना ही हो तो भगवान् से यह मागना चाहिए कि लडका मरने वाला हो तो भले ही मरे, परन्तु मरते समय उसे मानसिक व्याकुलता न हो।

४९. मेरे लिए क्या उचित है यह एक ईश्वर ही जानता है, अतः सकाम प्रार्थना न करे ।

पहले हम यह तय कर लेते है कि हमारे लिए क्या योग्य है, फिर ईश्वर से उसकी याचना करते है। इसका अर्थ यह हुआ कि हम भगवान् को अपनी बुद्धि का गुलाम बनाना चाहते है। उपनिषद् मे एक कथा है। भगवान् किसी पर प्रसन्न हुए। उन्होने उससे कहा—वर मागो। उसने कहा—प्रभो, मै क्या जानू, कौन-सा वर मागू ? मुझे इस बात का ज्ञान ही नही है कि मेरे लिए क्या योग्य है। तुम्ही सबकुछ जानते हो। जो मेरे लिए उचित हो वह तुम्ही दे दो।" वह भक्त परीक्षा मे पास हो गया। वही वास्तविक परीक्षा का समय था। उस समय उसने स्वय निर्णय करके उसे भगवान् पर लादने की कोशिश नही की। भगवान् जो मेरी बुद्धि के अनुसार चलने के लिए तैयार नही होता इसीमे मेरा कल्याण है। वह यदि मेरी बुद्धि के अनुसार चलने को तैयार होगया तो यह निश्चित समझो कि मेरा अकल्याण करके वह मुझे अक्लमन्दी सिखाना चाहता है। हम अपनी बुद्धि को प्रमाण मानते है और फिर चाहते है कि हमारी बुद्धि के निर्णय के अनुसार भगवान् चले। ऐसा करना मानो भगवान् को हमारी वद्धि के अनुसार चलने वाला अपना नौकर समझना है। भले ही वह शक्तिशाली हो, पर है हमारा नौकर ही। निर्णय का विचार करने का अधिकार उसे नही। विचार करेगे हम, निर्णय करेगे हम, हम है 'विधिमण्डल' तो वह है सिर्फ अमल मे लाने वाले महकमे का हाकिम। किसी जड उपकरण की तरह भगवान् से काम लेने की चाह रखना जडता का लक्षण है। अहकार तो है ही। इसमे भगवान् का अपमान है, हमारी नास्तिकता है। जडता का यह भाग सभी धर्मों में भक्ति के नाम पर आ घुसा है। सकाम कर्मों मे भगवान् की सहायता मागना भक्ति का लक्षण नही। इसलिए गीता ने स्थान-स्थान पर सकामता पर प्रहार किया है। गीता का मानो सकामता से सदा का झगडा ही है।

छठा व्याख्यान

[१]

५१. अबतक के विवेचन का सारांश : यतत्+विपश्चित्+मत्पर=स्थितप्रज्ञ

इन्द्रिय-निरोध का कार्य जितना स्थूल है उतना तो साधक को स्वशक्ति से कर लेना चाहिए। परन्तु इतने से, अर्थात् स्थूल-निग्रह से, इन्द्रिय-जय पूरा नही होता। मन मे से उसका रस,स्वाद चला जाना चाहिए, किन्तु इन्द्रिया जब मन पर हमला करती है तब मनुष्य की दोनो शक्तिया, जिन्हे हमने ज्ञान व तितिक्षा कहा है, नाकाफी साबित होती है। इस शक्तियो को विवेक व वैराग्य भी कह सकते है। कब इन्द्रियो का निग्रह करना चाहिए व कब सयम—यह जानने की शक्ति 'विवेक' है। विवेक के द्वारा निग्रह व सयम के अवसरो को पहचान लेने के बाद उसके अनुसार चलने की शक्ति है "वैराग्य"। परन्तु इस तरह विवेक-वैराग्य-पूर्वक इन्द्रिय-निरोध का प्रयत्न करने पर भी रस बाकी रह जाता है। अत रस-निवृत्ति के लिए कहते है--'मत्परायण होओ।' विवेक व वैराग्य, ये दोनो शक्तिया काम मे लाने के बाद तथा इन्हे काम मे लाते हुए ईश्वर-परायण होकर रहना चाहिए। इस प्रकार इन तीन श्लोको मे इन्द्रिय-जय की परिपूर्ण व्याख्या व साधना बताई है। इन्द्रियो का निग्रह व सयम करके कामनामुक्ति प्राप्त करना इन्द्रिय-जय की परिपूर्ण व्याख्या है। इसकी तिहेरी साधना तीन विशेषणो के द्वारा दरसाई है—यतत्,विपश्चित् व मत्पर—इन तीन विशेषणो का जोड लगावें तो गीता का स्थित-प्रज्ञ हो जाता है। इस

५४. ब्रह्मचर्य अर्थात् ईश्वर-परायणता इस तरह का विधायक ध्येय है।

ब्रह्म से तन्मय होने का अर्थात् ईश्वर-परायण होने का प्रयत्न करना विधायक साधना है। इसीको ब्रह्मचर्य कहते है। हमारी वृत्ति का ब्रह्म से या ईश्वर से तादात्म्य होना चाहिए। ब्रह्मचर्य का अर्थ केवल इन्द्रिय-निग्रह नही। इन्द्रिय-निग्रह कोई स्वतन्त्र अथवा अन्तिम साध्य नही है। उद्देश्य तो है प्रज्ञा को स्थिर करना। इन्द्रिय-निग्रह प्रज्ञा को स्थिर करने का साधन है। परन्तु प्रज्ञा स्थिर कहा करे ? सब ओर से उसे हटाकर स्थिर किस जगह करे ? उसे स्थिर होने के कारण कोई जगह चाहिए न ? इसका उत्तर है—उसे ईश्वर मे स्थिर करो। यहा यह नही कहा है कि इन्द्रिय-निग्रह के लिए मत्परायण होओ, कामनानिवृत्ति के लिए मत्परायण होओ। यह तो निषेधक अर्थ हुआ। यह पूर्ण अर्थ नही है। इस वचन का विधायक अर्थ है—इन्द्रिय-निग्रह करके मत्परायण होओ। कामनाए यदि बाहर से निवृत्त हो तो फिर उन्हे ठहरने की, रहने की जगह कौनसी ? आत्मा ही वह स्थान है। यही आत्मा इस जगह 'मत्परायण' शब्द मे ध्वनित किया गया है। कामनारूपी आलम्बन यदि निकाल लिया तो मन निरालम्ब व खाली हो जायगा। उस दशा मे वह अधिक समय तक नही रह सकता। इसलिए उसे ईश्वर का आधार देकर ईश्वर-चिन्तन से भर देना है। वह जब ईश्वर-चिन्तन मे मग्न हो जायगा तो फिर उसपर इन्द्रियो के आक्रमण की आशका नही रह जायगी।

५५. ईश्वर-भक्ति ईश्वर-भक्ति के ही लिए है।

इन्द्रिय-निरोध की पूर्णता के लिए ईश्वर-भक्ति की सहायता लेना उचित है, ऐसा पहले कहा। परन्तु वह कथन भी पूर्ण नही है, क्योकि ईश्वर-भक्ति किसीका साधन न होकर खुद ही स्वयम्भू साध्य है, ऐसा बाद मे मालूम हुआ। ईश्वर-भक्ति का कोई भी अवान्तर उद्देश्य नही हो सकता। ईश्वर-भक्ति ईश्वर-भक्ति के ही लिए है। आजकल हम 'कला के लिए कला', 'विद्या के लिए विद्या', 'ज्ञान के लिए ज्ञान' ऐसी भाषा सुनते है, परन्तु यह टिकने वाली

नही। सांख्यो ने इस विषय मे पहले ही निर्णय दे रखा है। जड वस्तु स्वय अपने लिए हो ही नही सकती। प्रकृति प्रकृति के लिए नही है। प्रकृति पुरुष के लिए है। कला आत्मा के लिए है। विद्या व ज्ञान मेरे लिए है। 'जड के लिए जड' यह भाषा ही गलत है, किन्तु यह भाषा और सब बातो में गलत साबित हो तो भी ईश्वर-भक्ति के विषय में सच है। 'ईश्वर-भक्ति के लिए ही ईश्वर-भक्ति' यह भाषा गलत नही है, क्योकि ईश्वर जड वस्तु नही, बाह्य वस्तु नही, वह तो मेरा ही परिशुद्ध रूप है। अत ईश्वर-भक्ति ही ध्येय है व दूसरी सब कामनाए और साधनाए उसीके लिए है—ऐसा होना चाहिए।

५६. भक्त की भूमिका प्राकृतिक चिकित्सक की तरह

बीमारी आ गई है। उसे दूर करने के लिए उपाय हो रहा है। तो अब बीमारी को दूर करने की जरूरत क्यो है? बीमारी को दूर करना कोई स्वतन्त्र ध्येय नही। ध्येय तो है आत्म-कल्याण। आत्मकल्याण के लिए यदि बीमारी का दूर होना आवश्यक हो तो दूर होना इष्ट है, यदि दूर न होना आवश्यक होगा तो दूर न होना इष्ट साबित होगा। एक बार एक शास्त्रज्ञ से बातचीत हुई। वह प्राकृतिक चिकित्सा के समर्थक थे। उनसे पूछा, आपके शास्त्रानुसार क्या सभी रोगी चगे हो जाते है? उन्होने कहा—नही, सब रोगी नही अच्छे होते, सब रोग अच्छे होते है। उनकी भाषा सुनिश्चित थी। उनकी पद्धति मे जो रोगी मरने लायक होते है वे मर जाते है, परन्तु मरते है शान्तिपूर्वक। अच्छे होने लायक रोगी अच्छे हो जाते है। वे भी शान्तिपूर्वक अच्छे होते है। यही बात यहा भी है। भक्त की भूमिका इस प्राकृतिक चिकित्सक की तरह है। वह कहता है, "ईश्वर की योजना के अनुसार मेरी आत्मोन्नति के लिए बीमारी दूर होना अभीष्ट हो तो दूर हो। उसकी योजना के अनुसार आत्मोन्नति के लिए दूर न होना अभीष्ट हो तो दूर न हो।" वह तो सब अवान्तर निर्णयो का भार परमात्मा पर छोडकर छुट्टी पा लेता

है। उसकी बुद्धि ने एक ही निर्णय कर रखा। मुझे आत्मोन्नति चाहिए, ईश्वर-भक्ति चाहिए। इतना ही वह जानता है। और किसी बात को नही जानता। वह सब बाह्य कर्म ईश्वर-भक्ति की लब्धि के लिए करता है। किसी भी बाह्य काम के लिए वह ईश्वर-भक्ति को एक्सप्लॉयट नही करना चाहता, ठगना नही चाहता।

५७. अनन्यता सकामता को भी बचा लेती है।

अब यहा यह पूछा जा सकता है कि भले ही गौण रूप मे क्यो न हो और अनन्यता की शर्त पर ही क्यो न हो, गीता ने जो सकाम भक्ति को जगह दी है वह दी ही क्यो ? इसका उत्तर यह है कि कामना-पूर्ति के लिए यदि किसीने दूसरे सब अवान्तर आधार छोडकर एक ईश्वर का ही पल्ला अनन्य भाव मे पकड लिया तो यह समझना चाहिए कि उसने भी एक उत्तम निश्चय किया। और सब आधारो को छोडकर एक ईश्वर पर ही भरोसा रखना कोई ऐसा-वैसा निश्चय नही है। अतएव सकामता निचले दरजे की होने पर भी वह निश्चय ही आत्मोन्नति में साधक होता है। आगे नवें अध्याय में तो इससे भी एक कदम आगे कहा है—मुझे अनन्य भाव से भजने वाला अनन्य दुराचारी हो तो भी शीघ्र ही उसकी भावना शुद्ध हो जाती है। "क्षिप्रं भवति धर्मात्मा" वह शीघ्र धर्मात्मा हो जाता है। यह अनन्यता का सामर्थ्य है। बीमारी आई, उसे दूर करने की चिन्ता लगी तो डाल दिया सारा भार भगवान् पर ही। न डाक्टर चाहिए, न वैद्य। खाना-पीना भी छोड दिया। 'भगवान् मुझे बचाओ' कहकर अनन्य भाव से उसीको पुकारा। ईश्वर उसकी श्रद्धा देखकर या तो अच्छा ही कर देगा या प्रत्यक्ष दर्शन देकर उसे अपने पास भी ले जायगा। दूसरी दृष्टि से लोगो को ऐसा दिखाई देगा कि उसकी कामना पूरी नही हुई; परन्तु भगवान् पर अनन्य श्रद्धा रहने के कारण भक्त को ऐसा ही अनुभव होगा कि मेरा तो अत्यन्त कल्याण हुआ।

५८. सुदामदेव का दृष्टान्त।

इस विषय में सुदामदेव का उदाहरण बहुत मौजू है। दरिद्रता से अति-

शय पीडित होने के कारण उसकी पत्नी ने उसे श्रीकृष्ण के पास भेजा। श्रीकृष्ण ने उसे कुछ न देकर सूखा ही घर लौटा दिया। स्वयं उसे पहुचाने बडी दूर तक साथ आये। सुदामदेव कुछ चिवडा पल्ले मे बाध कर ले गये थे, सो भी गवाकर खाली हाथ लौटे, पर मन मे बहुत आनन्द हो रहा है। "पत्नी ने मुझे कामना लेकर भगवान के यहा भेजा था। पर वह माधव कितना दयालु है! उसने मेरी जैसी-तैसी कामना पूर्ण नही की!" यह कहते हुए वह अपनी भक्ति को पुष्ट करता हुआ घर लौटा तो क्या देखता है कि सारा गाव सोने का बन गया है। "भगवान् का कैसा अनुग्रह कि उसने सारा गाव ही सोने का बना दिया! किंतु यह मेरे तुच्छ सुखोपभोग के लिए थोडे ही है। भगवान् की यह देन जनता की सेवा मे ही लगाऊ न?" भगवान् ने दिया तो भी अनुग्रह, न दिया तो भी उसका अनुग्रह ही, इस अनन्यता की भावना मे ही भक्त की महिमा समाई हुई है।

५९. भक्त को सब बातो में ईश्वर की कृपा दिखाई देती है।

एकनाथ को भगवान् ने मन के माफिक पत्नी दी। उन्हे लगा—"भगवान् का कितना अनुग्रह है मुझपर। अब इसकी सहायता से जल्दी ईश्वर-प्राप्ति करूगा।" तुकाराम को अनुकूल पत्नी नही मिली। वे कहते है—"भगवान् का मुझपर कितना अनुग्रह है कि उन्होने मुझे मन-माफिक स्त्री नही दी, नही तो मै अवश्य ही इस ससार मे फस जाता।" पत्नी मन के माफिक मिली तो भी अनुग्रह, मन के खिलाफ मिली तो भी अनुग्रह। न मिले तब भी अनुग्रह और मिलकर मर गई तो भी अनुग्रह ही।

"पत्नी मरी, पाई मुक्ति।
मानो दे दी माया मुक्ति॥
प्रभुजी अब हम दोनो राजा।"

भगवान्, तेरे-मेरे बीच एक परदा था, सो अब चला गया। अब हम

दोनो का एकच्छत्र राज्य हो गया। इस तरह भक्तो को सब बातो में परमेश्वर की कृपा ही दीख पड़ती है। अनन्य भक्त की भूमिका की यही महिमा है।

६०. अनन्य भक्त की सकामता व्यापक सद्भावना ही है; एक लौकिक दृष्टान्त।

कामनापूर्वक परन्तु अनन्यता से की गई ईश्वर-भक्ति मे उद्देश्यहीन कोटि का होने अथवा दिखाई देने पर भी अनन्यता की बदौलत भगवान् की कृपा से चित्तशुद्धि होती है, अथवा दूसरी तरह से कहे तो सकामता का लोप होकर निष्कामता की प्राप्ति होती है, अथवा और भी दूसरी भाषा में कहे तो सकामता ही निष्काम बन जाती है, बल्कि अनन्यता से युक्त सकामता, सूक्ष्मदृष्टि से देखे तो, सकुचित सकामता नही होती, किंतु व्यापक सद्भावना ही होती है। इसके लिए हम बडे उदाहरणो को छोडकर एक छोटा-सा लौकिक उदाहरण ही ले। मान लीजिये कि एक स्त्री की ईश्वर पर अनन्य भक्ति है। उसकी नथ खो गई है। वह चाहती है कि मिल जाय। वह कहती है—"भगवान् मेरी नथ मिल जाय। देख, मैंने तेरी भक्ति में जरा भी कसर नही रखी है। फिर भला मेरी नथ क्यो खो गई? और उसे लेने की इच्छा भी किसीको क्यो हुई? अब मै तो उसे खोजने की कोई कोशिश करूगी नही, पुलिस में भी रिपोर्ट नही करूगी। मन से भी किसीपर सदेह नही करूगी। जिस किसीने ली है उसमें तू ही सद्भावना जाग्रत कर देगा तो वह वापस ला देगा। उस हालत में मैं प्रसाद चढ़ाऊंगी। जिसने चुराई है उसे उसमें से आधा प्रसाद दूगी। उसके प्रति तुच्छ भाव मन मे न आने दूगी और मै तेरी भक्ति और भी जोर से करूगी। यदि तूने उसे ऐसी सद्बुद्धि न दी तो मै उसपर क्रोध न करूगी, तुझपर करूगी और उस क्रोध में और भी वेग से तेरी भक्ति करने लगूगी। अब तुझे जो-कुछ करना हो सो कर।" जब अनन्य भक्ति व सकामता दोनो की एकत्र कल्पना की जाती है तब इतना गहरा अर्थ उसका होता है। अब इस कल्पित स्त्री की नथ-विषयक कामना वास्तव मे क्या है? ससार में किसीके मन में चोरी की

६१. ईश्वर-परायणता ही मुख्य वस्तु है। वासना को ईश्वरपरायण बनाओ।

इस सबका यह अर्थ हुआ कि अयान्तर कामना तो गया , परन्तु इन्द्रिय-निग्रह-रूपी साधना भी निचली कोटि की है, व ईश्वर-परायणता ही असली चीज है। गीता का थोड़े में किंतु बलपूर्वक कथन यह है—"तू मत्परायण हो और रुचिपूर्वक विषयाधीन न हो तो बस ! इससे तेरी सारी वासना धुलकर साफ हो जायगी।" चित्त मे वासनाए उठती रहे, परन्तु उसके अनुकूल वाह्यकृति न होने दे तो काफी है। वासनानुकूल कृति करने से वासना पक्की हो जाती है, अत ऐसा न कर , परन्तु दूसरी ओर साधक के वाह्य इन्द्रिय-निग्रह कर लेने पर भी चित्त की वासना छूट तो नही जाती । वह भीतर-ही-भीतर धुधवाती और सताती रहती है। चित्त को चैन नही पडने देती। तो वह क्या करे ? कहते है, वह उस वासना को ही ईश्वर-परायण कर दे। एकनाथ ने भगवान् से प्रार्थना की है—"मेरे चित्त में जो-जो वासनाए उठें वह तूही हो जाय।" इस तरह तमाम वासनाओ का रूपान्तर हो जाता है। वासना ईश्वरमय हो जाती है। भक्ति से वह उन्नत होती जाती है ।

६२. वासना मूलतः बुरी नहीं है। ईश्वर-परायणता से वासना का रूपान्तर होता है।

वस्तुत किसी भी मनुष्य में बुरी वासना रहती ही नही है; पर वह खुद भी इस बात को नही जानता, दूसरे भी नही जानते। बाह्य वस्तु की प्राप्ति के लिए वह दौडधूप करता दिखाई देता है। सारी बाह्यसृष्टि मेरी हो, इसके लिए वह प्रयत्न करता है। कभी-कभी तो निषिद्ध वस्तु के लिए भी वह प्रयत्न करता हुआ दीखता है। सच पूछिये तो शरीर के कैदखाने में बन्द आत्मा की व्यापक होने की यह कोशिश है। वह विराट सृष्टि से अपनी दृष्टि के अनुसार एक-रूप होना चाहता है। उस शरीर के सकुचित दायरे में उसे चैन नही पडती। शराबी शराब पीता है। उसके मूल में भी यही बेचैनी है। भक्ति-मार्ग उस शराबी से कहेगा—"तू यह बाहरी तुच्छ शराब पीना बन्द कर दे। भगवान् को ही तू अपनी शराब बना ले। उसकी भक्ति की शराब पीता जा।" उमर खय्याम की रुबाइयो मे यही प्रकार दिखाई देता है। "वासो यथा परिकृत मदिरामदान्ध" ऐसी स्थिति उस भक्ति-रूपी शराब के प्याले मे हो जाती है। इस तरह वासना भगवान् के अर्पण करने से उसे दिव्यरूप प्राप्त होता है। इसलिए भगवान कहते है—मत्परायण हो। चित्त मे विषय-वासना पैदा हो तो भी घबरा मत किकर्त्तव्यमूढ मत बन। अलबत्ते विषय-भोग मे मत पड, वासना ईश्वर के अर्पण कर दे। काम-क्रोध भी उन्हीको चढा दे। इससे उन विकारो का और तेरी वासना का रूपान्तर ही हो जायगा और तब चित्त के विकार शमन होकर प्रज्ञा स्थिर हो जायगी।

६३. निष्कामता, अनन्यता और ईश्वर-भावना हो तो फिर भौतिक विद्या की उपासना भी पावन हो सकती है।

भौतिक विद्या की उपासना मे भी यदि निष्कामता, अनन्यता व ईश्वर-भावना हो तो चित्तशुद्धि हो सकती है। इस दृष्टि से भौतिक व आध्यात्मिक, ऐसा भेद ही नही रह जाता। यह भेद वास्तव मे सच है ही नही।

सातवां व्याख्यान

[१]

६४. इंद्रिय-जय के तत्त्वज्ञान की प्रस्तावना। विषय-चिंतन से बुद्धिनाश तक की व्यतिरेक परम्परा।

स्थित-प्रज्ञ का प्रकट लक्षण है जितेंद्रियता। उसका विस्तार बीच के दस श्लोको से किया गया है। उनमे से तीन श्लोको का पहला विज्ञान-परिच्छेद पूरा हो गया। अब अन्वय-व्यतिरेक द्वारा इस बात का विवेचन किया गया है कि इद्रिय-जय का प्रज्ञा से क्या सम्बन्ध है। पहले दो श्लोको में व्यतिरेक से व पिछले दो श्लोको में अन्वय से इद्रिय-जय की स्थितप्रज्ञता के लिए आवश्यकता बताई गई है। यहा से इद्रिय-जय का तत्त्व-ज्ञान बताना शुरू हुआ है।

६५. विषय-चिंतन से संग और संग से काम पैदा होता है।

"ध्यायतो विषयान् पुस सगस्तेषूपजायते।
सगात सजायते काम कामात् क्रोधोऽभिजायते॥"

जो इद्रिय-निरोध नही कर पाया है, जो विषयो का ध्यान करता रहता है उसे उस विषय का सग लग जाता है। सग का अर्थ है सगति, परिचय। विषय का सग लगता है, इसका अर्थ हुआ विषयो में स्नेह उत्पन्न होता है। मन विषय मे लिप्त होने लगता है। उससे काम पैदा होता है। पहले विषयो का ध्यान, फिर संग, व फिर काम, ऐसा उत्तरोत्तर क्रम है। इन तीनो वृत्तियो में कोई बडा फर्क नही है बल्कि ये एक ही वृत्ति के तीन रूप है। उद्गम से

लेकर मुख तक किसी बड़ी नदी के अनेक नाम होते हैं तो भी उसका सारा प्रवाह एक ही रहता है। इसी तरह एक ही प्रकार-भोग वृत्ति के ये तीन नाम हैं। मिट्टी व मिट्टी की बनी वस्तुओं में फर्क भी आखिर क्या होगा? [illegible] के द्वारा विषयों से परिचय होता है, अर्थात् विषय मन में साकार होने लगता है। कोई मनुष्य किसी मित्र के आग्रह से सहज देखने के लिए शराब की दुकान पर चला गया। फिर अपने मित्र के खिंचाव से बार-बार जाने लगा। इस खिंचाव का नाम है संग। फिर उस विषय में रमणीयता, सुन्दरता, आकर्षकता, रस, मिठास, रंजन अनुभव होने लगता है। यही है काम। इसी काम से, गीता कहती है कि फिर क्रोध उत्पन्न होता है। 'कामात् क्रोधो-ऽभिजायते।'

६६. फिर काम से क्रोध उत्पन्न होता है। इस विषय में भाष्यकारों के स्पष्टीकरण।

यहां वास्तविक कठिनाई मालूम होती है। इस जगह विचारकों की फजीहत हुई मालूम होती है। यह प्रश्न विकट हो बैठा है कि काम से क्रोध कैसे उत्पन्न होता है। आगे चलकर क्रोध से मोह, मोह से स्मृति-भ्रंश, उससे बुद्धिनाश तक सीढ़ियां सीधी मालूम होती हैं, परन्तु यह ठीक से समझ में नहीं आता कि काम में से क्रोध कैसे पैदा होता है। शंकराचार्य ने अपने भाष्य में "कामात् कुतश्चित् प्रतिहतात् क्रोध अभिजायते" ऐसा हल निकाला है। वे कहते हैं—काम जब प्रतिहत होता है तो उसमें से क्रोध उत्पन्न होता है, परन्तु यदि ऐसी तरकीब निकाल ली कि जिससे वह प्रतिहत न हो तो फिर काम से क्रोध कैसे पैदा होगा? इसका यह मतलब हुआ कि काम से क्रोध पैदा होता है, यह वाक्य सदा के लिए सत्य नहीं साबित होगा। काम में यदि कोई रुकावट न पड़ी तो फिर इस वाक्य की इमारत ढहने लगती है। इसलिए गांधीजी ने इसपर एक और रास्ता निकाला है—"काम कभी पूरा होता ही नहीं," ऐसी टिप्पणी उन्होंने दी है। साधारणतः यह बात ठीक है। सारे

ससार का अनुभव अवश्य है कि काम सहसा पूर्ण नही होता। वासना बढती ही जाती है, तृप्ति कभी होती ही नही। दस हजार मिले तो लाख की इच्छा होती है। लाख के वाद दस लाख की, व फिर करोड की इच्छा। गणित की सख्या का अन्त नही लगता। वासना का भी कोई अन्त नही। ययाति का वचन प्रसिद्ध ही है—"आहुति डाली हुई अग्नि की तरह भोग से काम सदा बढता ही जाता है।" इस कारण गाधीजी की युक्ति वैसे लाजवाब मालूम होती है, परन्तु शकराचार्य व उनकी तरकीब प्राय एक-सी मालूम होती है। यदि कामना का अन्त नही है तो कही-न-कही से उसमे बाधा पैदा होगी ही, वह जहा हुई नही कि क्रोध पैदा हुए बिना नही रहेगा—यह है शकराचार्य का भाव। काम को गीता मे 'अनल' कहा है। उसे कभी 'अलम्' अर्थात् 'बस' होता ही नही।

६७. एकनाथ का हल।

लेकिन इतने पर भी फजीहत से छुटकारा नही हो जाता। समझो कि किसी शख्स ने बाहरी परिस्थिति को अपनी कामना के अनुकूल बना लिया, या कामना को उसके अनुकूल कर लिया तो फिर क्रोध के लिए गुजाइश कहा रही? कामना व परिस्थिति मे जिस तरह मेल हो जाने से कामना मे बाधा पैदा होने की सभावना कम हो गई तो फिर काम से क्रोध पैदा होता है, इस वाक्य मे बाधा आई ही न? इस कठिनाई से एकनाथजी ने भागवत मे एक और ही तरकीब निकाली है। वे कहते है—"काम या तो पूरा होगा या अधूरा रहेगा। अधूरा रहा तो क्रोध पैदा होगा और पूरा हो गया तो लोभ को जन्म देगा। अत क्रोध शब्द का अर्थ क्रोध व लोभ मिलाकर व्यापक करना चाहिए।" फिर सम्मोह होगा, सो वह या तो क्रोध से होगा या लोभ से। नरक के तीन दरवाजे बताते हुए गीता ने काम व क्रोध के साथ लोभ जो जोडा ही है वह अनुभूति भी ऐसी ही है कि काम से क्रोध व लोभ पैदा होते है।

६८. 'क्रोध' शब्द से यहां 'क्षोभ' समझना है।

परन्तु इस समस्या को हल करने का तरीका वास्तव में दूसरा ही है। यहा हमें यह समझना है कि 'क्रोध' का एक विशेष अर्थ है। विषयो का ध्यास लगने से सग उत्पन्न होता है। 'सग' का अर्थ है विषय का साकार रूप ग्रहण करना। फिर वह कान्त, कमनीय लगने से उसे पाने की इच्छा होती है। यह है काम, जिसमे से क्रोध को अवश्यम्भावी कहा है। यह नही कहा कि कभी-कभी पैदा होता है। अत यहा क्षोभ शब्द सामान्य अर्थ में नही आया है। क्रोध का स्थूल व हमारा परिचित अर्थ है गुस्सा, सताप। वह यहा अभीष्ट नही, बल्कि चित्त का चलन अथवा क्षोभ है। 'क्रुध' धातु का मूल अर्थ तौलनिक भाषा-शास्त्र के अनुसार क्षोभ, खलबली ही है। इसके समानार्थक 'कुप्' धातु का तो 'क्षोभ' के अर्थ मे सस्कृत में प्राय सदा ही प्रयोग होता है। काम के उत्पन्न होते ही मन की स्वस्थता डिगने लगती है। मन में अप्रसन्नता उत्पन्न होती है। काम की पूर्ति चाहे हो वा न हो, उसके उत्पन्न होते ही चित्त की समता चली जाती है।

६९. क्रोध का अर्थ है क्षोभ अर्थात् चित्त की अप्रसन्नता

इसके उलटे तरह से जो परम्परा अन्वय पद्धति से बताई गई है उससे भी यही अर्थ निकलता है। फिर आगे यह कहा गया है कि जिसने इन्द्रियों को जीत लिया है उसे प्रसन्नता प्राप्त होती है। इससे यह मालूम होता है कि यहा क्रोध शब्द प्रसन्नता के उलटे अर्थ में आया है। काम कहते है मन की इस छटपटाहट को कि मुझे फलां चीज चाहिए और यही अप्रसन्नता है। जबतक वह विषय प्राप्त नही हो जाता तबतक मैं पूर्ण नही हू, उसके बगैर मुझमें कमी है। ऐसी निहीन-भावना कामना के मूल में रहती है। यही कारण है जो कामना से मन मलिन होता है। उसकी निर्मलता चली जाती है। सस्कृत में तो प्रसन्न शब्द निर्मल के अर्थ में बरता भी जाता है। साफ पानी को 'प्रसन्नम् जलम्' कहते है, जैसे सिंहगढ़ की देवटकी का पानी। ऊपर से जब ककड डालते हैं तो ठेठ नीचे तह में पहुचने तक उसकी सारी

यात्रा साफ-साफ दिखाई देती है। प्रसन्नता का अर्थ है ऐसी निर्मलता व पारदर्शकता। वाल्मीकि जिस तीर्थ मे स्नान के लिए गये थे उसके विषय मे कहा है—"अकर्दमम् इदम् तीर्थम् सज्जनाना मनो यथा।" सज्जनो का चित्त सब तरह से खुला, निर्मल और प्रकट होता है। जैसा कि ज्ञानदेव ने कहा है—'कोना कचरा न वह जाने'। वह अकर्दम होता है। 'कर्दम' कहते है मल को। मल होता है पानी के बाहर की वस्तु। उसका रग जहा पानी पर चढा कि वह मटमैला हुआ। पानी जब असल की तरह बे-रग होता है तो प्रसन्न रहता है। इसी तरह आत्मा जब अपने मूल स्वरूप में रहता है तो प्रसन्न रहता है। उसे बाहरी वस्तु की इच्छा होना, उसका रग उसपर चढने लगना उसका मैलापन है। यही अप्रसन्नता है। बाह्य कामना जहा आई कि मिलावट हुई। तब कामना का महत्व आत्मा को मालूम होने लगता है। उसके सामने वह स्वय गौण हो जाता है, फीका पड़ जाता है। उसका मन चलित होने लगता है, अशान्ति, व्याकुलता मालूम होने लगती है, क्षोभ होता है। इसीको यहा 'क्रोध' कहा है। कामना से चित्त में जो स्पन्दन होता है वही यहा 'क्रोध' शब्द से सूचित किया गया है। आत्मा का मूल रूप प्रशान्त व नि स्पद होता है। रात के नीरव, निरभ्र और तारकित आकाश की तरह। अनन्त शुभ गुण ही मानो यहा के अनन्त तारे हैं!

७०. कामना से चित्त-क्षोभ क्यों होता है ?

आत्मा के परिपूर्ण और अनन्तगुणी होते हुए भी मनुष्य बाह्य वस्तु के लिए क्यो छटपटाता है? बाहर की इष्ट-प्राप्ति व अनिष्ट-परिहार की झझट में वह पडता क्यो है? इसका कारण यह है कि मनुष्य के चित्त को आत्मा का दर्शन नही होता। केवल बहिर् दर्शन होता है। बाहरी सृष्टि का सौन्दर्य उसे लुभाता है। असौन्दर्य त्रास देता है। वस्तुत सौन्दर्य अथवा असौन्दर्य बाह्य वस्तु मे नही है। वहा तो आकार-मात्र है। तद्विषयक अनुकूल-प्रतिकूल वृत्ति मुख्यत चित्त की करनी है। चित्त इन्द्रियाधीन है। गधे की

आवाज हमारे कानो को कर्कश मालूम होती है, इससे चित्त भी उसे कर्कश समझता है, परन्तु वास्तव में वह न तो मधुर है, न कर्कश। वह जैसा है, वैसा है। हमारे कानो को यद्यपि वह बुरा लगता है तो भी गधे के कानो को आनन्ददायी ही मालूम होता होगा। मुझे सगीत का शौक है, परन्तु जब मै यह विचार करने लगता हू कि यह आवाज मधुर व यह कर्कश है तब क्या मै वास्तव मे आवाज पर ही अपनी तरफ से आरोप नही कर रहा हू ? मै यह नही कहता कि खुद आवाज मिथ्या है, नही तो कोई मार्क्सवादी मेरे पीछे पड जायगा। कहेगा—"क्या इस सारी सृष्टि को ही कल्पना-प्रसूत कहते हो ?" लेकिन यह मेरा कहना नही है। सृष्टि सच्ची ही है। वह मैने अपनी कल्पना से बनाई नही है, इसीलिए तो मै कहता हू कि वह ईश्वर की बनाई है, परन्तु उसके सम्बन्ध में जो कल्पना, खयाल है, वह मेरा है, अर्थात् मेरे इन्द्रियाधीन चित्त का है। इस तरह मै सृष्टि के भिन्न-भिन्न पदार्थो के विषय मे अनुकूल या प्रतिकूल वृत्ति बनाता हू। वह क्षोभ का कारण होती है। जब यह बात समझ मे आ जायगी कि आत्मा परिपूर्ण है तो मनुष्य का चित्त सन्तुष्ट व प्रसन्न रहेगा। उसे किसी भी प्रकार की कमी न खटकेगी। वह कहेगा, मै बाह्य वस्तु के पीछे पडकर, उसके लिए व्याकुल होकर, परतन्त्र क्यो बन ? वह वस्तु क्यो नही मेरी अभिलाषा करती ? मै ही क्यो उसके लिए व्याकुल होकर अपने चित्त को खराब करू ? वह अपनी ऐंठ में चूर है तो मै क्यो न अपनी ऐंठ मे चूर रहू? बाह्य वस्तु की अभिलाषा करते रहने से आत्मा न्यूनता को प्राप्त होता है और इससे चित्त क्षुब्ध होता है। चित्त की इस क्षुब्धता को ही यहा क्रोध कहा है।

७१. क्रोध से मोह होता है, अर्थात् बुद्धि भोंठी होती है।

> क्रोधात् भवति सम्मोह सम्मोहात् स्मृति-विभ्रम ।
> स्मृति-भ्रशात्, बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ॥

क्रोध मे मन मूढ हो जाता है—"क्रोधात् भवति सम्मोह ।" बचपन मे मै कहा करता था—"भरपेट गुस्सा होकर भी मेरी बुद्धि

ज्यो-की-त्यो साबित रहती है।" क्रोध से बुद्धि की समता नष्ट होती है, इसका भी होश नही रहता, यही इस बात का लक्षण है कि बुद्धि ठिकाने नही है। मोह का अर्थ यह नही है कि बुद्धि की सारी ही शक्ति नष्ट हो जाय। बुद्धि की प्रखरता का चला जाना व उसका भोठा पड जाना ही मूढता का अर्थ है। ऐसी स्थिति में मनुष्य का कर्तव्य-निर्णय गड़बड में पड जाता है, यही सम्मोह है।

७२. मोह से स्मृति-भ्रंश होता है, अर्थात् यह होश नहीं रहता कि हम कौन है?

इस तरह सम्मोह होने पर स्मृति-भ्रश होता है। स्मृति-भ्रश का अर्थ मामूली विस्मृति नही; बल्कि इस बात का विस्मरण कि 'मै कौन हू' स्मृति-भ्रश है। बहुत-सी बातो का याद रहना 'स्मृति' नही है। मै जो-कुछ बोलता हू उसे अक्षरश ज्यो-का-त्यो किसीने दुहराकर बता दिया तो उसे मै जडयन्त्र कहूगा। जो भूल जाने लायक है उसे भूलने की व जो याद रखने लायक है उसे याद रखने की विवेक-शक्ति उसके पास नही है। सच्ची स्मृति मे यह विवेक गृहीत है। सब बातो को याद रखकर उसका बोझ वह क्यो उठावे? विवेक का उपयोग करके कुछ रख लेना चाहिए व कुछ छोड देना चाहिए। उचित स्मरण व उचित विस्मरण मिलाकर सम्यक् स्मरण-शक्ति होती है। अत. यहा पर स्मृति का अर्थ है—मै कौन हू, इसका निरन्तर भान, आत्मा का निरन्तर भान।

७३. भान नहीं इसका अर्थ क्या?

मनुष्य वार-वार आत्मा को भूलता रहता है। खेल के मैदान में जाकर वह कहता है, मै खिलाडी हू। लडाई के मैदान में कहता है, मै योद्धा हूँ। लडके को देखते ही कहता है, मै बाप हूँ। वह सदा भूल जाता है कि मै तो केवल, रगरहित उपाधिवर्जित, परिशुद्ध आत्मा हू। जिस परिस्थिति में जाता है उसी रग का हो जाता है। इसे कहेगे स्मृति-भ्रश। यो व्यवहार में

भी हम स्मृतिभ्रंश का यही लक्षण मानते है। जब कोई मनुष्य अपने होश-हवास भूलकर अटशट बडबडाने लगता है तो हम कहते हैं, इसका दिमाग ठिकाने नही रहा, इसे भ्रम हो गया है। यही स्मृतिभ्रंश है। नदिया कितनी ही उमड-उमडकर व बढ-बढकर समुद्र में जाकर गिरें तो भी समुद्र शान्त ही रहता है उनके सूख जाने पर भी वह सूखता या घटता नही। अपनी गभीरता व शान्ति छोडकर वह यदि नदियो के पीछे दौडने लगा तो उसे हम क्या कहेगे ? यही कहेगे न कि समुद्र अपने आप को भूल गया ? यही वात हमारी है। मै सारी सृष्टि का साक्षी हूँ। वह चाहे तो भले ही मेरे पीछे लगे। मैं नही उसके चक्कर में पडूंगा ! मै परिपूर्ण हूँ, मुझे किसी बात की कमी नही—यह भान ही स्मृति है। परिपूर्ण होते हुए भी अपूर्णता का भास होना स्मृति-भ्रंश है। स्वप्न में किसी राजा को दिखाई दिया कि मै भीख माग रहा हूँ तो हम कहेंगे कि वह अपना राजापन भूल गया। वैसी ही यह दशा है।

७४. स्मृतिभ्रंश से बुद्धिनाश।

इस तरह मनुष्य जब अपने होश-हवास खो वैठता है तो उसकी बुद्धि नष्ट हो जाती है। अर्थात् वह विषयाधीन हो जाती है। बुद्धि जब विषयाधीन या विषयनिष्ठ हो जाती है तो वह अपनी मूल-स्थिति खो बैठती है। बुद्धि की मूल-स्थिति का नष्ट होना ही बुद्धिनाश कहलाता है। मनुष्य जब अपने स्वरूप को भूल जाता है तो उसकी बुद्धि अपने मूलस्थान से भ्रष्ट हो जाती है। 'स्मृति-भ्रंशात् बुद्धि-नाश ।' बुद्धि के मानी है ज्ञान-शक्ति। आत्मा को जानने का सामर्थ्य उसीमें है। उस बुद्धि का उपयोग साधारण विषय-रस की विचिकित्सा में करना मानो उसका अधिकार ही छीन लेना है। मा ने अपने बच्चे की उगली में सोने की अगूठी पहना दी। वह जाकर उसे दो पेडो के लिए हलवाई की दूकान पर बेच आया। वैसी ही बात यह हुई। बुद्धि एक सर्वकान्तिमय, सर्वप्रभावती शक्ति है। विचार के बराबर प्रभा, विचार के समान तेज दूसरी किसी भी वस्तु में नही। ऐसी विचारसमर्थ बुद्धि को ऐसे विषयो में खर्च करना मानो उसका नाश करना ही है। आत्मा का ज्ञान

प्राप्त कर लेना बुद्धि का खास सामर्थ्य है, किन्तु जब बुद्धि विषय-निष्ठ हो जाती है तो वह उस सामर्थ्य से हाथ धो बैठती है। यह उसका नाश नही तो क्या है ? जिस बुद्धि ने आत्मनिष्ठता खो दी है वह यो चाहे कितनी ही सतेज क्यो न दिखाई दे, वास्तव में यही समझना चाहिए कि उसने अपना नाश कर लिया है।

आठवां व्याख्यान

[१]

७५. पिछले विवेचन का सार : बुद्धिनाश ही विनाश की अन्तिम सीढ़ी ।

इन्द्रिय-निरोध का प्रज्ञा से क्या सम्बन्ध है यह बात 'न'-कार से व 'है'-कार से, 'व्यतिरेक' से व 'अन्वय' से समझा रहे है । विषयचिन्तन से लेकर वुद्धि-नाश तक की परम्परा व्यतिरेक द्वारा बताई । इसका सिलसिला ठेठ वुद्धि-नाश तक जा पहुचता है । इसके विपरीत, अन्वय-परम्परा दिखलाते हुए, यह वतायगे कि वुद्धि की स्थिरता यह आखिरी मजिल है । उधर आखिरी सीढी है वुद्धि की स्थिरता, इधर अन्तिम है वुद्धि का नाश । आगे जो 'वुद्धिनाशात् प्रणश्यति' कहा गया है वह इसलिए नही कि बुद्धि-नाश के बाद अव और कोई सीढी दिखाना वाकी रह गया है, बल्कि वह वाक्य तो वुद्धिनाश की भयकरता दिखाने के लिए ही कहा गया है । वुद्धि गई तो सवकुछ चला गया । उसे आत्मनाश ही कहिए न । अव और कुछ नष्ट होना वाकी नही रहा है—यह उसका अर्थ है । इसका खुलासा आगे हो जायगा ।

७६. गीता को शब्दो के सूक्ष्म अर्थ ही अभिप्रेत है ।

हमने इस श्लोक के सभी पदो का सूक्ष्म अर्थ किया है । इसके बजाय यदि स्थूल अर्थ ही ले ले तो मनुष्य का समाधान वहुत थोडे मे हो जायगा । थोडे में ही वह अपने को 'स्थितप्रज्ञ' हुआ समझने लगेगा । उपनिषद् के

एक समानार्थक वचन से भी यही जाना जा सकता है कि गीता के मन में स्थूल नही, बल्कि सूक्ष्म अर्थ ही समाया हुआ है। वह वचन यह है— "आहार-शुद्धौ सत्वशुद्धि, सत्व-शुद्धौ ध्रुवा स्मृति, स्मृतिलम्भे सर्व-ग्रन्थीना विप्रमोक्ष." इसका अर्थ—'आहार शुद्ध होने से चित्त की शुद्धि होती है, उससे अविचल स्मृति-लाभ होता है। स्मृति-लाभ से मनुष्य के चित्त की सब गाठे खुल जाती है।' यहा आहार शब्द का अर्थ सिर्फ 'अन्न' ही नही, बल्कि सभी इन्द्रियो का आहार लेना चाहिए। गीता के 'निराहार' शब्द का भी हमने ऐसा ही अर्थ किया है। पहले हमने भक्ति-मार्ग की जो विशुद्ध प्रक्रिया देखी है, सो यही है। अशुद्ध आहार को छोडकर सब इन्द्रियो को शुद्ध आहार कराते जाय तो उससे चित्त की या बुद्धि की शुद्धि होती है। ऐसा होने से 'ध्रुवा स्मृति' प्राप्त होती है, अपना भान स्थिर रहता है और फिर चित्त की सब गाठें खुल जाती हैं। हमारे मन में भिन्न-भिन्न विचार-सस्कार की ग्रन्थिया या गाठें होती हैं। इन्हे अग्रेजी में 'काम्प्लेक्स' कहते है। बुद्धि शुद्ध होने का अर्थ है इन सब गाठो का खुल जाना। इन गाठो के खुल जाने पर बुद्धि मुक्त, स्वतन्त्र हो जाती है। आईने की तरह साफ हो जाती है। और फिर उसमें आत्मा का प्रतिबिम्ब झलकने लगता है।

७७. स्मृति बनाम स्मरण-शक्ति।

इतना सारा कार्य यहा 'स्मृति-लाभ' से अपेक्षित है। अत 'स्मृति' शब्द का अर्थ यहाँ साधारण 'स्मरण-शक्ति' नही कर सकते। मामूली स्मरणशक्ति वह है जिसे अग्रेजी में 'मेमरी' कहते है और तर्कशक्ति के साथ जिसके विकास का प्रयत्न पाठशालाओ में किया जाता है। व्यवहार में मनुष्य का भुलक्कडपना नही चल सकता। उसकी याददाश्त पक्की होनी चाहिए। तमोगुण मे लीन मनुष्य भुलक्कड हो जाता है इससे वह व्यवहार में कुशल नही होता। इतना तमोगुण न हो तो वह व्यवहारोपयोगी स्मरण रख सकता है। इतना ही उस स्मरण-शक्ति का कार्य है, परन्तु इस स्मरण-

शक्ति से हृदय-ग्रन्थि खोलने की अपेक्षा कोई भी नही रखेगा। उपनिषद् और गीता ने जिस स्मृति का उल्लेख किया हैं वह शक्ति नही, वल्कि चित्त की एक अवस्था है। आत्मा का नित्य स्मरण रहना उसका स्वरूप है। जव आत्मा का नित्य स्मरण रहेगा तो फिर दूसरे सस्कार हमारे चित्त पर चाहे कितना ही जोर का हमला करे उनका सिक्का उसपर नही जम सकता। उन सस्कारो के हमलो का मुकावला करने के लिए जो वुद्धि आत्म-स्मृति-रूपी ढाल को लिए सतत तैयार रहती है, उसे आत्मदर्शन होना विलकुल निश्चित ह।

७८. आत्मस्मृति के अभाव में संस्कार-पराधीनता।

इसके विपरीत जहा आत्म-विस्मृति है उसके चित्त पर वाहरी सस्कारो के ठप्पे पड जाते हैं। छोटे वच्चे के मन पर कोई भी सस्कार तुरन्त जम जाता है। हम कहते है, छोटे वच्चे का मन एकदम स्वच्छ होता है, सुकोमल होता है। किसी भी सस्कार को वह तुरन्त ग्रहण कर लेता है। परन्तु इसका कारण यह भी है कि छोटे वच्चो में आत्मविस्मृति पूर्णरूप से होती है। इससे वाहर की प्रत्येक वात उसके चित्त पर अकित हो जाती है और हम उस चित्त को सस्कारर्ह, सस्कार-सुलभ कहकर उसकी स्तुति करते हैं, परन्तु सस्कार यदि अच्छे होगे तो वह अच्छा वनेगा, वुरे होगे तो वुरा वनेगा। जैसे सस्कार होगे वैसे ही उसपर अकित होगे। इस दृष्टि से सस्कार-सुलभता को चित्त की भयानक दशा भी कहना होगा। जव यह कहा जाता है कि ज्ञानी का मन छोटे वच्चे की तरह होता है तव उसका अर्थ यह नही होता कि वह मस्कार-सुलभ है वल्कि यह होता है कि वह वच्चे के हृदय की तरह अकृत्रिम, निर्दम्भ, खुला, सहज होता है। हृदय में जव आत्मस्मृति का अखण्ड जाग्रत पहरा होता है तव उसे दूसरे सस्कारो का भय नही रहता। ऐसा व्यक्ति यदि चौराहे पर जाकर वैठ जाय तो भी वह अपनी जगह पर ही स्थित है। उसे कही भी डर नही रहता। वह रक्षण से परे हो गया है। आत्मस्मृति के निरन्तर जाग्रत रहने से उसे अपने लिए

बचाव की या बाड की जरूरत ही नही। नीति-शास्त्र के नियमो की बाड साधारण चित्त की रक्षा के लिए जरूरी होती है, वह स्थिति यहा नही है। जब आत्म-विस्मृति हो जाती है तो फिर बुद्धि बाहर के प्रहारो की पात्र बन जाती है। इससे उसे बाहर के कृत्रिम सरक्षण की जरूरत महसूस होती है। परन्तु आत्म-स्मृति के अभाव मे वे सब सरक्षण निरर्थक, बेकार भी साबित हो सकते है।

७९. गीता-श्रवण का फलित मोह-नाश और तज्जन्य स्मृति-लाभ।

यहा 'स्मृति' शब्द का अर्थ आत्म-स्मृति करना ही उचित है। इसके लिए और भी एक प्रमाण दिया जा सकता है। यहा सम्मोह से स्मृति-भ्रंश और स्मृति-भ्रंश से बुद्धि-नाश ऐसी परम्परा बताई गई है। अब यदि इसकी विपरीत परम्परा ठीक-ठीक लगाई जाय तो वह कैसी बनेगी ? इसका चित्र सामने खडा होने पर इन शब्दो के अर्थ पर प्रकाश पड जायगा। इसकी उलटी परम्परा होगी—मोहनाश होने से स्मृति-लाभ और स्मृति-लाभ से बुद्धि का सन्देह नष्ट होकर उसका स्थिर होना। गीता-श्रवण के अन्त में अर्जुन ने उस समय की अपनी स्थिति का वर्णन करते हुए बिलकुल इन्ही शब्दो में वह सिलसिला दिखाया है। वह कहता है—"नष्टो मोह स्मृतिर्लब्ध्वा स्थितोऽस्मि गतसन्देह" गीता-श्रवण से मेरा मोह चला गया, मुझे स्मृति-लाभ हुआ, मेरा सब सन्देह चला गया। अब यह देखने से कि अर्जुन को किस प्रकार का सन्देह हुआ था 'मोह' शब्द का और उसके साथ ही 'स्मृति' शब्द का भी अर्थ समझ में आ जायगा।

८०. 'मोहनाश' का अर्थ है कर्त्तव्य का खुलासा।

ऐसा दिखाई पडता है कि अर्जुन को अपने कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य के सम्बन्ध में मोह पैदा हो गया था। अत यह स्पष्ट हो जाता है कि यहा 'मोह' का अर्थ कर्त्तव्य-मोह ही करना चाहिए। यह मोह अर्जुन को किस कारण से हुआ ? इस युद्ध में मुझे सब अपने ही लोगो को मारना पडेगा—इस खयाल से

उसका मन भौंचक्का हो गया। उसके चित्त की व्यवस्थिति, स्वस्थता नष्ट हो गई। उसमे हलचल मची हो गई। 'ये मेरे' व 'ये पराये' इस विचार से उसका मन क्षुब्ध हो गया। जब किसी कच्चे दिल के न्यायाधीश के सामने खुद उसीका लडका मुल्जिम बनाकर पेश किया जाता है तो उसके मन में यह भावना पैदा होने लगती है कि मेरा बेटा बच जाय तो अच्छा। अपने कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य के विषय मे उसका मन डावाडोल, डावाडोल हो जाता है। वह झूलने लगता है। वह भोला-सा होने लगता है। यह सूझ नही पडता कि क्या करे ? ऐसी स्थिति अर्जुन की हो गई थी। अर्जुन ने गीता के प्रारम्भ मे अपने सम्बन्ध में ऐसा ही कहा है—"पृच्छामि त्वां धर्म-सम्मूढचेता" 'मेरी बुद्धि सम्मोह से ग्रस्त हो गई है। मुझे सूझ नही पडता कि क्या करू ? इसलिए मै आपकी शरण आया हू।' इससे यह सिद्ध होता है कि अर्जुन को अपने कर्त्तव्य के सम्बन्ध मे मोह हो गया था। यही गीता की मूल भूमिका है। अत यह स्पष्ट है कि उसमे मोह का जो अर्थ है वही यहा स्थित-प्रज्ञ के प्रकरण मे भी ग्रहण करना चाहिए।

८१. इसी सिलसिले में क्रोध के अर्थ के विषय में विचार।

जब इस बात का विचार करते है कि अर्जुन को मोह कैसे पैदा हुआ तो इसी सिलसिले में यह बात भी याद रखने लायक है कि इससे 'क्रोध' शब्द के अर्थ का भी स्पष्टीकरण हो जाता है। अर्जुन को मोह तो जरूर हुआ, पर उसे स्थूल अर्थ मे 'क्रोध' नही आ गया था। वह गुस्सा नही हो गया था, सन्तप्त नही हो गया था। ये मेरे ही अपने लोग मुझसे लडने के लिए तैयार खडे है इस बात पर एक विषाद हुआ और फिर उसमे से उसका कर्त्तव्य-मोह उत्पन्न हुआ। परन्तु गीता कहती है कि क्रोध से मोह पैदा होता है। अर्थात् गीता की दृष्टि मे विषाद और क्रोध पर्य्यायवाची ही मालूम होते हैं। यह विषाद शब्द ध्यान देने जैसा है। प्रसन्नतासूचक तीन अक्षरी 'प्र-सा-द' शब्द से बिलकुल उलटे अर्थवाला तीन अक्षरी 'वि-षा-द' शब्द

है। और क्रोध का भी स्वरूप हम ऐसा ही प्रसन्नता-विरोधी देख चुके हैं। इस अर्थ में क्रोध व विषाद दोनों शब्द क्षोभसूचक सिद्ध होते हैं।

८२. 'स्थितोऽस्मि गतसन्देहः' अर्थात् मैं स्थितप्रज्ञ हो गया।

स्मृति-भ्रंश-बुद्धिनाश-सर्वनाश-कारणत्वात् । तरंगायिता अपीमे संगात् समुद्रायन्ति ।" इसका अर्थ है—'कुसंगति को सब तरह से छोडना चाहिए, क्योंकि उससे काम, क्रोध, मोह, स्मृतिभ्रंश, इस परम्परा से बुद्धिनाश व सर्वनाश हो जाता है। मनुष्य के मन में ये विचार असल में तरंग की तरह अल्प हो तब भी वे कुसंग से समुद्र की तरह विशाल हो उठते हैं।' नारद के इन सूत्रो के अनुसार इन श्लोको का सबको अपनी-अपनी भूमिका देखकर लेकिन प्रगतिशील अर्थ यथासम्भव कर लेना चाहिए।

८४. बुद्धिनाश परम्परा के विभाजन का रहस्य : पहले मन पर आक्रमण फिर बुद्धि पर।

इन दो श्लोको का थोडा और पृथक्करण कर लेना ठीक होगा। पहले श्लोक में "ध्यायतो विषयान् पुंस" से शुरूआत करके "कामात् क्रोधोऽभिजायते" यहां खतम किया है। अगले श्लोको में "क्रोधात् भवति सम्मोह" से लेकर बुद्धिनाश तक का भाग बताया है। यह ऐसा विभाजन क्यो किया? इसमें कोई योजना तो नही है? मनुष्य के चित्त के दो भाग है—मन और बुद्धि। पहले श्लोक में यह बताया गया कि विषयचिन्तन के फलस्वरूप मन पर उसका कैसा आक्रमण होता है। दूसरे श्लोक में इस बात का निरूपण किया गया है कि बुद्धि पर उसका प्रहार किस रूप में होता है। पहलेपहल विषयो का प्रहार मन पर होता है, सीधा बुद्धि पर नही। इससे मन के विकारयुक्त हो जाने पर भी बुद्धि सही-सलामत रहती है, ऐसा भास हो सकता है, परन्तु वह अधिक समय तक नही टिक सकेगा। अत समय रहते ही सावधान होकर मन पर हमला होते ही उसे खदेड़ देना चाहिए। यो देखा जाय तो पहला धावा इन्द्रियो पर ही होता है। वह विषयों का पहला किला है। वही से उनका हमला लौटा देना चाहिए। आगे चलकर तीसरे अध्याय में इसका अधिक विवेचन किया गया है। "इन्द्रियाणि मनोबुद्धि अस्याधिष्ठानमुच्यते।" इन्द्रिया, मन व बुद्धि ये कामना के आश्रयरूप तीन किले है। इन्द्रिया सबसे बाहरी किला है। इसलिए लडाई का आरम्भ इन्द्रियो से ही करना पडता है। यह हम पहले ही देख चुके है।

नवां व्याख्यान

[१]

८५. स्थिर-बुद्धि की परम्परा का आरम्भ : रागद्वेष छोड़ कर इन्द्रियों का उपयोग करने वाला प्रसाद पाता है।

विषय-चिन्तन से शुरू होने वाली बुद्धि-नाश की परम्परा खतम हो गई। अब अगले दो श्लोको में इससे उलटी परम्परा बताते है। बुद्धि-नाश की इस परम्परा से हमको यह शिक्षा मिली कि इद्रिय-जय का अर्थ स्थूल व सूक्ष्म दोनो रूप में ग्रहण करना चाहिए। तभी बुद्धि की रक्षा होगी। तो यहा यह प्रश्न खडा होगा कि फिर क्या आत्मज्ञानी पुरुष अपनी इद्रियो के तमाम व्यापार ही वन्द कर दे ? इसी प्रश्न का उत्तर अब आगे दिया जाता है।

> रागद्वेष-वियुक्तैस्तु विषयान् इन्द्रियैश्चरन् ।
> आत्मवश्यैर् विधेयात्मा प्रसाद अधिगच्छति ।।

अर्थ—"विषयो के प्रति वैराग्य स्थिर हो जाने पर इन्द्रिया हमारे अधीन हो जाती है। इन स्वाधीन इन्द्रियो के द्वारा विषयों का सेवन करने वाला पुरुष प्रसाद अर्थात् प्रसन्नता पाता है।" इसका आशय यह ह कि ज्ञानी मनुष्य ही निर्भयता से इन्द्रिय-व्यवहार कर सकता है। जिनकी सत्ता इन्द्रियो पर नही चलती, उनके लिए खतरा है। जिनको भय है उन्हें निर्भय की तरह हरगिज न विचरना चाहिए। इन्द्रियो के व्यापार करते हुए राग-द्वेष उत्पन्न होते है। यह खतरा जिसने हटा दिया वह व्यक्ति इन्द्रियो के सभी उचित व्यापार करेगा ; वल्कि उसकी दृष्टि मे तो सभी

व्यवहार आध्यात्मिक ही हो जायगे। इतना ध्यान जरूर रखना चाहिए कि इन्द्रियो को अपनी खूराक देते हुए राग-द्वेष उत्पन्न न हो। प्रसन्नता-प्राप्ति के लिए इन्द्रिय-जय आवश्यक है; परन्तु इसका अर्थ यह नही है कि हम इन्द्रियो से कुछ काम ही न ले। इन्द्रियो से यदि कोई काम ही न लेना हो तो फिर इन्द्रिय-जय की जरूरत भी नही रहेगी। असल बात यह है कि हम इन्द्रियो के अधीन न हो। चाकू इस्तेमाल करना और चाकू के अधीन होना—दोनो में फर्क है। चाकू से पेन्सिल छीलना चाकू इस्तेमाल करना है। उगली पर चलाकर हाथ ही छील लेना चाकू के अधीन हो जाना है। इन्द्रियो का उपयोग भगवान् की सेवा मे करना चाकू से पेन्सिल छीलने जैसा है; परन्तु उनके वश में होकर बुद्धि-नाश कर लेना चाकू से उगली काट लेना है।

८६. दोनों परम्पराओं की मुख्य सीढ़ियां : बीज, शक्ति, फलित।

बुद्धि-नाश की परम्परा जैसी तफसील से बताई है वैसी उलटी परम्परा सविस्तर नही बताई है। एक परम्परा यदि व्यवस्थित रूप से बता दी गई है तो उसमे दूसरी अपने आप आ जाती है। फिर परम्परा की सारी सीढिया एक-सा महत्त्व नही रखती और आदि, मध्य, अन्त अथवा शास्त्रीय भाषा में कहे तो बीज, शक्ति और फलित—इन तीन सीढियो को याद रखें तो काफी है। विषय-चिन्तन बीज है। उससे अप्रसन्नता या चित्त-चलन (मै 'क्रोध' शब्द को छोड ही देता हू) यह शक्ति हुई और बुद्धि-नाश हुआ फलित। इसके विपरीत क्रम में विषयो से राग-द्वेष उत्पन्न न होने देना बीज, प्रसन्नता शक्ति और बुद्धि की स्थिरता यह फलित हुआ। तीन मुख्य सीढिया बता दी गई है। उनके आधार पर परिपूर्ण परम्परा बिठाई जा सकती है।

८७. 'प्रसाद' शब्द के अर्थ के सम्बन्ध में गलतफहमी।

'प्रसाद' शब्द के अर्थ पर बहुत-कुछ विचार किया, फिर भी वह कुल मिलाकर गलतफहमी बढाने वाला हो गया है। उसका अर्थ 'प्रसन्नता' करने

से भी गलतफहमी दूर नही होती। प्रसन्नता का अर्थ आजकल उल्लास, आनन्द किया जाता है; परन्तु दरअसल प्रसाद अथवा प्रसन्नता का अर्थ उल्लसित वृत्ति या हर्ष नही है। प्रसाद का अर्थ है न विषाद और न हर्ष ही। परन्तु लोग उसका अर्थ प्राय हर्ष ही करते है। तुलसीदासजी ने श्री रामचन्द्रजी की मुखश्री का वर्णन करते हुए कहा है—

प्रसन्नता या न गताभिषेकत. ।
तथा न मम्ले वनवास दु खत ॥
मुखाम्बुज-श्री रघुनन्दनस्य मे ।
सदास्तु सा मजुल-मगल-प्रदा ॥

"राज्याभिषेक की बात सुनकर जिसपर प्रसन्नता नही छिटकी और वनवास का कष्ट सामने खडा होते हुए भी जिसपर विषाद की छाया नही पडी, वह राम की मुख-कान्ति हमारा नित्य मगल करे।" यह साफ है कि यहा तुलसीदासजी ने 'प्रसन्नता' शब्द का अर्थ, जैसा कि रूढ था, वैसा ही किया है, परन्तु भाषा की शास्त्रीयता के लिए मै तुलसीदासजी से सिफारिश करूगा कि वे 'प्रसन्नता या न गता' की जगह 'प्रहृष्टता या न गता' का प्रयोग करे, श्रीराम की मुख-मुद्रा हर्ष-विषाद-रहित थी यही वह कहना चाहते है। इसीका नाम है प्रसन्नता।

८८. वस्तुतः प्रसाद के माने है प्रसन्नता, अर्थात् स्वास्थ्य।

प्रसन्नता का अर्थ है निर्विकारता, शान्ति, गाभीर्य। 'गाभीर्य' शब्द से डर लगता हो तो उसे छोड दीजिए। 'प्रसन्नता' से तो डरने की जरूरत हई नही। प्रसन्नता का मतलब है—राग-द्वेष-रहितता, स्वच्छता, निर्मलता। उसका लक्षण ऐसा भी किया जा सकता है—जिसके दर्शन-मात्र से दु ख शमन होता है वह है प्रसन्नता। किसीका लडका मर गया। इससे उसका जी एकदम उदास हो गया। कही भी मन नही लगता। वह एक झरने के किनारे जाकर बैठ गया। मन कुछ लगा—शान्त हुआ। यह गुण उस झरने की निर्मलता

का है। निर्मलता स्वय-प्रचारक है। उसका प्रभाव सहज ही पडता है। उसका दर्शन होने से वह अवश्य आनन्द उपजाती है। 'प्रसन्नता' का अर्थ व्यक्त करने के लिए भाष्यकार ने 'स्वास्थ्य' शब्द का प्रयोग किया है, वह ठीक है। 'स्वास्थ्य' में शारीरिक व मानसिक दोनो प्रकार के आरोग्य का समावेश हो जाता है। वैद्य-शास्त्र के अनुसार शारीरिक स्वास्थ्य का अर्थ है–शरीर में धातुसाम्य रहना और मानसिक आरोग्य का अर्थ है चित्त की समता रहना, मानसिक शान्ति रहना। इस तरह दोनो अर्थों का सग्राहक यह 'स्वास्थ्य' शब्द 'प्रसन्नता' का ठीक पर्याय माना जा सकता है।

८९. प्रसन्नता से सब दुःख सदा के लिए मिट जाते है, क्योकि दुःख-मात्र मनोमल का परिणाम है।

'प्रसादे सर्व-दु खाना हानिरस्योपजायते'

इन्द्रिय-जय द्वारा प्राप्त प्रसन्नता से सब दु ख बिलकुल ही मिट जाते हैं। गीता ने प्रसन्नता की ऐसी विशेषता बताई है। दूसरे सुख-साधनो से तो बाज-ही-बाज दु ख दूर होते है और सो भी थोडे समय के लिए। भोजन से भूख बुझती है, थोडी देर के बाद फिर लगती है। नीद से थकान मिट जाती है और फिर नीद से जी भी ऊबने लगता है। इस तरह भिन्न-भिन्न दु खो को दूर करने के लिए भिन्न-भिन्न सुख-साधनो का सतत प्रयोग करते रहना पडता है परन्तु प्रसन्नता से सभी दु ख मिट जाते है, क्योकि जहा से दु ख पैदा होता है वही प्रसन्नता अपना डेरा डाले रहती है। विज्ञान द्वारा यह प्रयोग सिद्ध हो चुका है कि यदि दु ख की सवेदना मस्तिष्क तक न पहुँचे तो दु ख का अनुभव नही होता, इसी तरह जिसके चित्त में प्रसन्नता का झरना बहता रहता है, दु ख उसके मन को डिगा नही सकते। अधेरी गुफा मे दिया ले जाने से अधेरा मिट जाता है, ऐसा कहने की अपेक्षा यह कहना ज्यादा उचित होगा कि अधकार को ही प्रकाश का रूप प्राप्त हो जाता है। उसी तरह जहा अन्त करण निर्मल अर्थात् प्रसन्न है वहा दु ख ही सुख-रूप

हो जाता है, क्योकि तमाम दु ख मनुष्य के मनोमल के परिणाम हैं । फिर वे दु ख चाहे शारीरिक हो या मानसिक ।

[२]

९०. प्रसन्नता से स्थिर-बुद्धि सहज-साध्य ।

चित्त जब प्रसादयुक्त अथवा प्रसन्न हो जाता है तो फिर बुद्धि देखते-देखते में स्थिर हो जाती है। "प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धि पर्यवतिष्ठते ।" प्रसन्नता आई कि फिर स्थितप्रज्ञता आने में देर नही लगती । निर्विकारता अथवा प्रसन्नता चित्त की स्थिरता का प्रत्यक्ष साधन है । चित्त की स्थिरता के जो दूसरे साधन माने जाते है उनसे चित्त बस थोडी देर के लिए एकाग्र होता है । ये साधन कृत्रिम व क्षणस्थायी ही होते है, परन्तु चित्त का मल निकाल डालने से स्थिरता अपने-आप व सदा के लिए आ जाती है और जब स्थिरता ही चित्त की सहज अवस्था हो जाती है तो यह व्यग्रता ही उलटी अखरने लगती है ।

९१. जैसे बालक की ।

छोटे बालक के चित्त में जो एकाग्रता रहती है उसका कारण भी यही है । छोटे बच्चे की आखो की तरफ टक लगाकर देखिए । बिना पलक भाजे वह एकटक देखता ही रहता है । उतने ही समय मे हम दस-पाँच बार पलक खोलते व मूदते है । उनकी आखो के सामने योगियो की मुद्रा भी हार जायगी । इसका कारण है उनके चित्त की निर्मलता । हा, उनमे निर्भयता अलबत्ते उतनी नही रहती है । इससे जहा भय मालूम हुआ नही कि उनकी आखें मुदी नही । शिक्षण-शास्त्र मे छोटे बच्चे का चित्त फजूल ही विवाद का विषय बन बैठा है । कुछ शिक्षा-शास्त्री कहते है कि छोटे बच्चे का चित्त बहुत चचल रहता है । पर वस्तुत चित्त उनका चचल नही रहता, इनका रहता है, परन्तु आरोप उनपर किया जाता है । "उलटा चोर कोतवाले

डॉटे" इसीको कहते है। छोट बच्चे के लिए एकाग्रता बिलकुल मुश्किल नही। हमारे यहा चरखा कातते हुए छोटे बच्चो का जैसा ध्यान लग जाता है कि उसे देखकर बडे-बडे लोगो को भी आश्चर्य होता है, लेकिन इसमें आश्चर्य की कोई बात नही। सतत बहने वाली धार एकाग्रता में सहायक होती है। इसीलिए महादेव की पिंडी पर अभिषेक की धार छोडकर एकाग्रता का अभ्यास किया जाता है। किसी अखण्ड बहने वाले झरने के किनारे बैठने पर चित्त एकाग्र हो जाता है। इसी तरह सूत का धागा सतत निकलते देखकर छोटे बच्चे का निर्मल मन सहज ध्यानस्थ हो जाता है। हा, उसका दिमाग कमजोर होने से उसका ध्यान अधिक समय तक नही टिकता, यह बात दूसरी है, परन्तु एकाग्रता अलबत्ते उसके लिए बहुत सहज है। सहज भी कितनी ?—मुह मे जरा-सी मिठाई पहुची नही कि वह सारी दुनिया भूलकर उसकी मिठास मे लवलीन हो जाता है। एकदम रोना बन्द कर देता है। बच्चा जब रोने लगता है तो मा कहती है—वह देख, क्या फुदकता है ? बच्चा अपनी सारी वृत्तियो को समेट कर कौवे की तरफ देखने लगता है। फौरन तन्मयता हो जाती है। इस सहज एकाग्रता की ही बदौलत वह शिक्षा तेजी से व झट ग्रहण करता है। इस सहज एकाग्रता का कारण है चित्त में मल का न होना। चित्त-शुद्धि ही स्थायी एकाग्रता का मुख्य व प्रत्यक्ष साधन है। शेष सब कोरे बाह्य उपचार है।

१२. समाधि कहते है मूलस्थिति को, उसे बाह्य साधनों की आवश्यकता नही।

जबतक चित्त में वासनाएँ भरी हुई है तबतक केवल बाह्य साधनो से एकाग्रता कैसे होगी ? सुबह का समय हो, आँखें खुल गई हो, शौच-स्नान से निवृत्त हो चुके हो जिससे चित्त तरोताजा हो गया हो, आसन पर तन कर बैठे हो, दृष्टि अर्धोन्मीलित हो, ध्यान के लिए कोई श्लोक या नाम गुनगुना रहे हो, कोई मूर्ति, चित्र, ज्योति या जलधारा आखो के सामने हो, कही से शात सगीत का सुमधुर स्वर सुनाई दे रहा हो—तब जाकर, इतने तमाम

उपचारो के बाद कही दस-पाच मिनट एकाग्रता होती है। फिर वह तो बाह्य उपचारो से ही आई होती है, अतएव कायम कैसे रहेगी ? समाधि यदि आत्मा की मूल अवस्था है तो वह सहज होनी चाहिए। उसके लिए बाह्य प्रयत्नो की आवश्यकता ही न रहनी चाहिए। वह कुछ भी न करते हुए ही लगनी चाहिए, बल्कि रहनी चाहिए। खाना-पीना, देखना, सुनना, चलना-फिरना इत्यादि क्रियाए है, अत उनके लिए परिश्रम, प्रयत्न चाहिए, यह ठीक ही है। परन्तु समाधि तो मूलस्थिति है। उसके लिए बाह्य प्रयत्न की, परिश्रम की क्या जरूरत है ?

९३. चित्त-शुद्धि हुई कि समाधि लगी समझिए

महाभारत मे एक वचन है—"चित्त की शुद्धि होने पर छ महीने मे समाधि लग जाती है।" इसका अर्थ इतना ही समझना चाहिए कि व्यासदेव को उनके खयाल के अनुसार चित्त-शुद्धि होने के छ महीने बाद समाधि-लाभ हुआ, नही तो चित्त-शुद्धि होने पर फिर यह छ महीने की झझट और क्यो ? और छ महीने का अर्थ क्या १८० दिन ही ? १७९ से काम नही चलेगा ? इसका अर्थ ही यह है कि अभी चित्त-शुद्धि पूरी नही हुई। व्यासदेव से यदि खोद कर ही पूछेगे तो वे कहेगे—मेरी गीता वाली भाषा ही ठीक है। गीता कहती है, "चित्त-शुद्धि होते ही एकाग्रता हो जाती है। अब, सब प्रकार के प्रयत्न छोडना ही जिस अवस्था का स्वरूप है, वह सहज ही सधना चाहिए, यह कहने की जरूरत नही है। हमारे बालकोबा (विनोबा के छोटे भाई) कहते है—"मै कोशिश करता हूँ, पर नीद नही आती।" मै उन्हे कहता हूँ—"तुम कोशिश करते हो, इसीसे नही आती। कोशिश ही नीद के विरुद्ध है।" कोशिश छोड देने से नीद अपने आप आ जाती है। यही बात एकाग्रता की है। सारे प्रयत्न छोड देने के बाद ही सच्ची एकाग्रता, सहज एकाग्रता सधती है। एकाग्रता के साधन ही चित्त पर उलट पडते है और क्षणिक एकाग्रता के बाद फिर व्यग्रता आ जाती है।

९४. फिर भी तात्कालिक उपाय के रूप में बाह्य साधन भी उपेक्षा योग्य नहीं ।

परन्तु इसका यह अर्थ हरगिज नही है कि जबतक सहज एकाग्रता न सध जाय तबतक बाह्य साधनो से एकाग्रता का अभ्यास न किया जाय। साधक को साधना मे बाह्य साधनो से भी सहायता मिल सकती है। अत उनका उपयोग करना उचित ही है। और इसलिए गीता के छठे अध्याय में साधको के उपयोग के लिए उनको थोडे मे बताया भी है। साधना के लिए सबसे अनुकूल समय है प्रात काल। वह अनुपम है। मानो वह सत्वगुण का ही प्रतीक है। अधकार चला गया है, प्रकाश अभी आया नही है। दिन रजोगुण का प्रतिनिधि है और रात को तमोगुण समझो। और सधिकाल है सत्वगुण का, आत्मा के समत्व का, प्रशान्तता का प्रतिनिधि। यही कारण है जो सन्ध्याकालीन उपासना का विधान किया गया है। उस समय का दृश्य बडा रमणीय, पवित्र और उद्बोधक होता है। वह समय एकाग्रता के प्रयोग के लिए बहुत मौजू है। सुबह का समय खो दिया तो मानो सारा दिन ही व्यर्थ गया। अत उस समय का उपयोग ध्यान के लिए करना नि सशय श्रेयस्कर है, परन्तु चित्त को बाहर से टेका-सहारा देकर खडा करना एक बात है और दीवार की तरह उसका अपने से सीधा तनकर खडा रहना दूसरी बात है। अत गीता ने अन्त में जो सकेत किया है वही उचित है। जब चित्त शुद्ध हो जाता है, निर्विकार हो जाता है, तो वह खुद अपने बल पर स्वाभाविक सीधा खडा रहेगा। और यही सकेत पतजलि ने भी कर रखा है। उनकी भाषा में ध्यान-योग के लिए यम-नियमो का आधार आवश्यक है। यम-नियम क्या है ? चित्त-शुद्धि की साधना ही हैं, किन्तु जब चित्त-शुद्धि हो जाती है, प्रसन्नता प्राप्त हो जाती है, तो फिर बुद्धि के स्थिर होने की या एकाग्रता की चिन्ता करने की जरूरत ही नही है। "प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धि पर्यवतिष्ठते।"

दसवां व्याख्यान

[१]

९५. बुद्धि-नाश की अनर्थकारिता बताने के निमित्त जीवन के पांच मूल्यों का अवतरण।

अबतक अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा यह बताया गया कि सयम से प्रसन्नता-लाभ होकर बुद्धि स्थिर होती है और असयम से चित्त-क्षोभ होकर बुद्धि-नाश होता है, बुद्धि की स्थिरता नष्ट होती है। इससे सयम का महत्व अपने-आप सिद्ध हो जाता है और यदि कोई ऐसी दीर्घ शका ही करे कि बुद्धि की स्थिरता चली गई तो क्या बडा नुकसान होगा, तो उसका भी उत्तर "बुद्धिनाशात् प्रणश्यति" इस वाक्य के द्वारा दे दिया है। सच पूछिए तो ऐसी शका किसीको करनी न चाहिए और करे तो भी उसका उत्तर किसीको देना न चाहिए ; परन्तु गीता ने केवल वह उत्तर दिया ही नही, बल्कि उसे सविस्तर समझाने के लिए एक और श्लोक खर्च किया है। "बुद्धिनाशात् प्रणश्यति" यह तो एक बच्चा भी समझ लेता है —फिर उसे इतना विस्तार से समझाने की क्या जरूरत ? परन्तु यह तो एक निमित्त-मात्र है। इसके द्वारा उन्हे जीवन-मूल्यो का निरूपण करना है। यह मन मे ठसाना है कि वे सभी स्थिर-बुद्धि पर, और अर्थात् सयम पर अवलम्बित हैं। सद्भावना, चित्त की शान्ति और आत्म-सुख ये तीन जीवन के अतुलनीय मूल्य है और तीनो स्थिर-बुद्धिके अभाव में खतरे में जा पडते है। अत स्थिरबुद्धि और तत्साधक सयम ये भी उतने ही महत्त्व के मूल्य है; बल्कि ये आखिरी दो तो स्वतन्त्र

भी मूल्य है। साधक के व्यक्ति-विकास के ही लिए नही, बल्कि कुल मिलाकर सारे समाज के भी त्रैकालिक स्वास्थ्य के लिए इससे अधिक उपयोगी अथवा भिन्न मूल्य विचारक लोग नही दिखा सके है। ये सभी एक छोटे-से सूत्र-वाक्य में गूथ दिये गए है, अत मै इन्हे पचरत्नी कहता हू।

९६. सर्वाधार-संयम : संयम के बिना बुद्धि नही।

नास्ति बुद्धिर् अयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयत शान्तिर् अशान्तस्य कुत सुखम् ॥

यह है वह सूत्र-वाक्य। इसका अक्षरश अर्थ—"अयुक्त को बुद्धि नहीं, अयुक्त को भावना नही। भावना के बिना शान्ति नही। शान्ति के बिना सुख नही"—इस प्रकार होगा। यह सूत्र ही है, इसलिए इसपर भाष्य करने की आवश्यकता है। 'अयुक्त को बुद्धि नही' यह तो अबतक जो मीमासा की गई उसका फलित बताया है। अयुक्त को अर्थात् असयमी पुरुष को। सयम से बुद्धि और उसके अभाव मे बुद्धिनाश, इन दो अन्वय-व्यतिरेकी न्यायो की वह निष्पत्ति है। अर्थात् यह केवल पूर्वानुवाद है। "अयुक्त. काम-कारेण फले सक्तो निबध्यते।" अयुक्त पुरुष स्वैर-वृत्ति के कारण फलाशा में फसकर बाधा जाता है, ऐसा पाचवें अध्याय का वचन है। इससे 'अयुक्त' शब्द के अर्थ पर प्रकाश पडता है। अयुक्त का अर्थ है आसक्त, कामना-ग्रस्त, अक्षरार्थ से "युक्ति-रहित।" युक्ति का अर्थ है सयम की युक्ति, यह हम पहले ही देख चुके है। इसे जीवन की कुजी ही समझिए। जब यह मालूम हो जाता है कि व्यक्ति व समाज का रुख सयम की ओर है या स्वच्छन्दता की ओर, तो उसके जीवन का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। अत इसे जीवन का पहला मूल्य कह सकते है। दूसरा मूल्य है इसीसे निर्माण होने वाली स्थिर-बुद्धि।

९७. आगे का अध्याहार : बुद्धि के बिना भावना नही।

यहा तक इस सूत्र में कही भी बाधा नही है, परन्तु इसके आगे सूत्र खण्डित जैसा लगता है। 'अयुक्त को बुद्धि नही और अयुक्त को भावना नही'

ऐसी भाषा आगे बोली गई है। वह त्रुटित है। गीता कहना यह चाहती है कि भावना जीवन का तीसरा मूल्य है। उससे शान्ति और शान्ति से सुख—इस प्रकार अगले मूल्य बनाये है। भावना के बिना शान्ति नही, शान्ति के बिना सुख नही, ऐसा कहने से भावना की आवश्यकता समझ मे आ गई। सयम से लेकर सुख तक की शृखला सयम, भावना, शान्ति, सुख—इस तरह जुड गई, परन्तु बीच मे ही यह बुद्धि क्यो ले आये ? बुद्धि व भावना का कुछ भी सम्बन्ध नही बताया गया, इससे बुद्धि अधर मे ही रह गई। यदि बुद्धि को एक तरफ रखकर भी सयम की आवश्यकता सिद्ध करनी हो तो वह इस सूत्र से हो सकती है, परन्तु ऐसा अपेक्षित नही है। सयम की आवश्यकता तो पक्की है, पर वह बुद्धि के द्वारा दिखाना चाहते है। किसी भी तरह से देखें, यह वाक्य अधूरा ही लगता है। इसलिए 'नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य नचाबुद्धस्य भावना'—सयम के बिना बुद्धि नही और बुद्धि के बिना भावना नही, ऐसा वाक्य यहा होना चाहिए था। परन्तु वर्तमान वाक्य को ही गृहीत करके "स्थितस्य गतिश् चिन्तनीया" इस न्याय के अनुसार उसमे यह सुसगत अर्थ बैठाना चाहिए। इसलिए "नास्तिबुद्धिर् अयुक्तस्य, अतएव न च अयुक्तस्य भावना" ऐसा, 'अतएव' शब्द का अध्याहार मानकर काम चलाना होगा। कुल मिलाकर ऐसा अर्थ निकाला—"सयम के बिना बुद्धि नही, बुद्धि के बिना भावना नही, भावना के बिना शान्ति नही, शान्ति के बिना सुख नही।"

(२)

९८. अध्याहार का मर्म : बुद्धि से भावना अलग नहीं। परिनिष्ठित बुद्धि ही भावना है।

तो अब सयम से लेकर सुख तक अखण्ड शृखला बताते हुए बीच की एक कड़ी जोड़ना छूट कैसे गया होगा ? ऐसी शका यहा हो सकती है। इसका उत्तर ऐसा है कि भगवान् ने यहा बुद्धि और भावना का अद्वैत ही मान लिया मालूम होता है। इस कल्पना मे एक विशेष दर्शन है। भावना

से भगवान् का अभिप्राय है "परिनिष्ठित वुद्धि", वुद्धि की परिपक्वता। वुद्धि जव इतनी परिनिष्ठित हो जाती है कि उसे अव विचार करने की जरूरत नही रही तो उसे भावना कहते है।

९९. परिनिष्ठित बुद्धि-रूप भावना के उदाहरण।

कुछ-कुछ वातो में वुद्धि इतनी दृढ हो गई होती है कि फिर विचार करने की जरूरत ही नही रहती। यह सुनते ही कि खून हो गया, बिना विचारे मुह से निकल पडता है—'वडा वुरा हुआ'। इसे भावना कहते हैं। ऐसी कुछ भावनाए समाज के हृदय में जमी हुई रहती है। उन्हे पुनर्विचार की जरूरत नही रहती। मनुष्य-समाज ने उन विषयो पर लाखो वार विचार कर-करके निर्णय कर रखा है। जैसे आप किसी भारतीय समाज के मनुष्य से पूछेगे कि क्या शराव से कुछ भी फायदा नही है? शराव थोडी-थोडी पिया करे तो क्या हर्ज है? तो वह कहेगा—'भाई, मै यह कुछ नही जानता। तुम्हारी वाते मेरे गले नही उतरती।' हमारे पूर्वजो ने हजारो वार प्रयोग किये है और यह निर्णय कर रखा है। कुरान में कहा है—'शराव से फायदा कम नुकसान ज्यादा।' यह तो असली शास्त्रकारो का तर्कशास्त्र हुआ। पर जव एक वार वुद्धि पक्की होकर भावना में परिणत हो गई तो फिर तर्क की जरूरत नही रहती। तव वह स्वय-सत्य हो जाता है।

१००. प्रगत समाज में ऐसी अनेक भावनाएं समाई रहती है। उन्हींसे समाज मे शान्ति रहती है।

वुद्धि-पूर्वक किये गए प्रयोगो के परिणाम-स्वरूप जो भावनाए समाज में प्रतिष्ठित हो चुकी है वे सामाजिक प्रगति की द्योतक होती है। युद्धो में इतने आदमी मारे जाते है तो यह सवाल पूछने को मन होता है कि जब ये मारे ही जाते है तो फिर इन्हे खा क्यो नही डालते? होते तो ये वडे हट्टे-कट्टे लोग है। अव यदि शास्त्र-दृष्टि से यह तय हो जाय कि इनका मास खाना ठीक नहीं है, तो वात दूसरी, परन्तु वहुत करके यही फैसला होगा कि

मनुष्य का मास मनुष्य को जल्दी आत्मसात हो जायगा । अत यदि और प्राणियो की तरह मनुष्य को भी हम खाने लगे तो अनाज की कमी उतनी न रहेगी । और यदि यह मालूम हो जाय कि मारे गये लोग खाने के काम में आते हैं तो सम्भव है कि सैनिक लोग उन्हे और भी उत्साह व उमग से मारेगे। परन्तु बावजूद इसके यह निश्चित हो चुका है कि मनुष्यो को खाना नही चाहिए । इसका कारण यह है कि हमारी भावना ऐसी बन चुकी है । उसके मूल मे अनुभवसिद्ध बुद्धि है । मनुष्य का मनुष्य को खाना बुरा ही है, पर यदि यह रास्ता खोल दिया जाय कि मनुष्य मनुष्य को खाने लगे तो और भी अनर्थ होगा । फिर तो समाज के पतन की कोई सीमा ही न रहेगी; यह बात मनुष्य के मन में इतनी गहरी बैठ चुकी है कि अब इसके लिए तर्क करने की गुजाइश ही नही रही है । यह सद्-भावना का बढिया उदाहरण है । ऐसी अनेकविध उन्नत भावनाए जिस समाज मे पैबस्त हो चुकी हों वह समाज शान्तिमय रहता है । इसके विपरीत जिस समाज के विचार कभी खतम ही नही होते, हमेशा हर बात में सन्देह व अनिर्णय रहता है, बुद्धि परिनिष्ठित नही होती, उस समाज में सदा अशान्ति ही रहेगी ।

१०१. परन्तु समाज मे पैबस्त भावना सर्वथा बुद्धियुक्त ही होती हो सो बात नहीं। अतः भावना के कुशल संशोधन की आवश्यकता ।

इतिहास के अनुभव से कुछ भावनाए समाज मे स्थिर हो जाती है । उन्हीसे सामाजिक जीवन सुव्यवस्थित रहता है । समाज मे समतौलता रहती है; परन्तु सभी भावनाए बुद्धि-युक्त होती हो सो बात नही । अत. उनपर बुद्धि का प्रकाश डालकर उन्हे जांच लेना चाहिए । भावना के जितने अश के मूल मे बुद्धियुक्तता पाई जाय उसे कायम रखना चाहिए । जितना अंश अबुद्धि-युक्त हो उसे निकाल डालना चाहिए । अलबत्ते भावना का समूल उच्छेद न करना चाहिए । उसकी शुद्धि व विकास करना चाहिए,

नही तो समाज में फिर कोई भी स्थिर मूल्य न रहेगा। उसका तौल नहीं सभाला जा सकेगा। अशान्ति व अव्यवस्था का वोलवाला हो जायगा। सामाजिक सद्-भावनाओ के कुछ उदाहरण तो हमने देख लिये। अब और भी उदाहरण देख ले जिससे यह मुद्दा ज्यादा स्पष्ट हो जायगा।

१०२. संशोध्य भावना का एक उदाहरण : मांसाहार-निवृत्ति।

हमारा समाज भावना के द्वारा मासाहार को हेय समझता है। उसके फलस्वरूप कुछ सारी-की-सारी जातियो ने मास छोड दिया है; परन्तु बाद को ये जातिया अपने को उच्च समझने लगी। यही तक बस नही हुआ, कुछ जातियो को अछूत तक मानने की नौबत आ गई। इस ऊच-नीच भेद में और भी कुछ वातें मिला दी गई, फिर भी कुछ जातियों की मास-विषयक वर्ज्य-भावना का अश उसमें हुई है। यह भावना तो उचित है, परन्तु उसके सिलसिले मे आये ऊच-नीच भेद को छोडकर ही उसको अपनाना व पुष्ट करना पडेगा।

१०३. दूसरा उदाहरण : अन्नदान-सम्बन्धी श्रद्धा।

दूसरी एक और भावना है हमारे समाज में अन्नदान के महत्त्व-सम्बन्धी। सब दानो में अन्नदान श्रेष्ठ व निर्दोष माना गया है; परन्तु समाज में उस भावना का विनियोग करने हुए आज उसे विकृत व अनिष्ट रूप प्राप्त हो गया है। परन्तु इस कारण उसके मूलस्थ सन्देश को मार देना इष्ट न होगा। उसे सुधार कर परिपुष्ट करना चाहिए। अन्नदान को श्रेष्ठ मानने में यह कल्पना गृहीत है कि प्रत्येक भूखे मनुष्य को भोजन का अधिकार है। उसे भोजन देना समाज का कर्त्तव्य है। अन्नदान मनुष्य को सीधा ही पहुच जाता है। दूसरी तरह से सहायता पहुचाने में दूसरी एजेन्सियाँ, दूसरे मध्यस्थ, बाधक हो जाते है, परन्तु इसमें इस बात की सावधानी जरूर रखनी चाहिए कि जिसका पेट भरा हुआ है उसपर और अन्न का बोझ न लादा जाय, अन्नदान का अतिरेक न हो जाय, उससे आलस्य को प्रोत्साहन न मिले।

मूल भावना को कायम रखकर विनियोग की पद्धति में इष्ट सुधार करना चाहिए। बुद्धि के प्रकाश में भावना के शुद्धीकरण करने का सामाजिक दर्शन हमें इसमें से मिलता है।

१०४. स्थिरप्रज्ञा पर ही स्थापित भावना शान्तिदायी

राष्ट्र मे भावनाए तो भिन्न-भिन्न रहेगी ही। वे यदि परिशुद्ध होगी तो राष्ट्र मे शान्ति रहेगी। परिशुद्धि न होंगी तो अशान्ति का दौरदौरा हो जायगा; परन्तु अशान्ति किसीके भी लिए पथ्यकर नही हो सकती। तब फिर शान्ति के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार की कृत्रिम व हिंसक तजवीजें भी खडी की जाती है। आज यही हो रहा है। समाज में यदि स्वाभाविक तौर पर शान्ति रखना है तो उसके लिए यही उपाय है कि शुद्ध भावना को कायम रखकर उसका विकास करे व अशुद्ध भावना निकाल डाले। अब यह बताने की जिम्मेदारी कि सद्-भावना कौन-सी और असद्-भावना कौन-सी, एक स्थितप्रज्ञ की ही है; क्योकि उसकी बुद्धि स्थिर व तटस्थ हो गई है, अत वह इस बात की असली परख कर सकता है कि कौन-सी भावना सत् और कौन-सी असत् है। भावना मे कला, सगीत, सौंदर्य-सम्बन्धी कल्पनाए, मनोविनोद के साधन, धार्मिक उत्सव, पूजा-विधि इत्यादि सभी बातें आ जाती है। राष्ट्र के जीवन-विकास के लिए इन सब विभागो में उचित विकास होना आवश्यक है। यदि इसके सबन्ध मे राष्ट्र में अटशट धारणाए रूढ हो तो उस राष्ट्र की अधोगति ही होगी। उसमें अव्यवस्था फैल जायगी। अर्थात् ये सब चीजें स्थिरबुद्धि की बुनियाद पर खडी करनी चाहिए। स्थिर-बुद्धि का अर्थ है शास्त्रीय बुद्धि। उसमें आत्मज्ञान, शरीर-विज्ञान, सृष्टि-विज्ञान, सृष्ट-पदार्थ-विज्ञान, गणित, चिन्तन-शास्त्र इत्यादि सब आ गये। ऐसी स्थिर-बुद्धि की शास्त्रीय बुनियाद पर सामाजिक भावनाए आधारित हो तो फिर अपने-आप शान्ति रहेगी। उसकी स्थापना के लिए कृत्रिम उपाय नही करने पड़ेंगे। ऐसा समाज अहिंसक रहेगा। सारा राष्ट्रीय विधान ही ऐसा होगा कि शान्ति उसका स्वाभाविक लक्षण होगा।

१०५. अतः स्थितप्रज्ञ का नेतृत्व मानना चाहिए।

इसके लिए समाज में इतनी बुद्धि आ जानी चाहिए कि वह मार्ग-दर्शन की जिम्मेवरी स्थितप्रज्ञ व्यक्ति पर ही डाले। जिस समाज के लोगो में इतनी अकल न आई हो, या समाज के बडे लोगो ने उन्हे इतनी समझ प्रदान न की हो तो फिर वहा मार्ग-दर्शन का काम अस्थिर-प्रज्ञ नेताओ के पास रहेगा। स्थितप्रज्ञ के पथ-दर्शन में सामाजिक नीति का आधार सयम ही रहेगा। विज्ञान के द्वारा जीवन का यथार्थ सत्य खोजा जायगा और समाज में फैलाया जायगा। कला हृदय-विकास का भाग है। उसकी रचना विज्ञान के आधार पर होगी और ऐसा समाज विधान निर्मित होगा, जो समाज को समतौल रख सकेगा और जिसके फलस्वरूप समाज में स्थायी शान्ति व समाधान रहने लगेगा।

ग्यारहवां व्याख्यान

[१]

१०६. 'भावना' शब्द का और थोड़ा विचार।

'भावना' शब्द का थोड़ा और विचार कर लेना उपयोगी होगा। वैद्य-शास्त्र में 'भावना' का अर्थ है घोटना, घोलना, पुट चढाना। होमियोपैथी में दवाए घोटी जाती है। मर्दन से उनकी ताकत बढती है, उनका गुण बढता है। इसी तरह बुद्धि को घोटते रहने से उसकी शक्ति बढ करके वही भावना बन जाती है। स्थित-प्रज्ञ की बुद्धि परिणत होती है। अत उसके जीवन में सिर्फ भावना ही रहती है। उसका जीवन भावना से लबालब भरा रहता है। बुद्धि व भावना मे एक भेद और है। बुद्धि सिर्फ दिशा दिखाती है। भावना दिशा भी दिखाती है व काम भी करती है। बुद्धि जब कार्यक्षम व कार्यकारी हो जाती है तो वही भावना बन जाती है। बुद्धि का रूपान्तर भावना में होने के लिए बुद्धि को घोटना जरूरी है। 'सब भूतो मे एक ही आत्मा है' यह स्थित-प्रज्ञ के लिए तर्क-रूप बुद्धि न रहकर उसकी रग-रग में भरी हुई भावना हो जाती है। अत उसे सारे समाज के प्रति वात्सल्य-भाव मालूम होने लगता है। माता के मन मे अपने बच्चे के प्रति जैसा वात्सल्य रहता है वैसा ही स्वाभाविक भाव उसका हो जाता है। तब उसके द्वारा समाज की सेवा सहज स्वभाव से होने लगती है। यहा यह शका रहने की जरूरत नही है कि स्थितप्रज्ञ का जीवन बुद्धिमय होता है तो फिर उसमें भावना के लिए स्थान कैसे रहेगा? क्योकि यह हम पहले ही देख चुके हैं

कि स्थिर हुई बुद्धि ही भावना है। स्थितप्रज्ञ का जीवन बुद्धिमय होता है, इसीलिए वह भावनामय होता है।

१०७. बुद्धि-प्रधानता बनाम भावना-प्रधानता—यह भेद स्थित-प्रज्ञ के अन्दर लोप हो जाता है।

परन्तु ऐसी शका इसलिए उत्पन्न हो जाती है कि हम आजकल बहुत बार 'भावना' शब्द का प्रयोग बुद्धि के खिलाफ अर्थ में करते है और उसकी तुलना बुद्धि के साथ करते है। आजकल हम कहने लगे है—फला शख्स भावना-प्रधान है, व फला बुद्धि-प्रधान। इसके द्वारा हम यह कहना चाहते है कि एक में भावना की अधिकता व बुद्धि की कमी तथा दूसरे में बुद्धि की अधिकता व भावना की कमी है। भावना-प्रधान शब्द का अर्थ यहा होता है निरकुश मन, मन पर बुद्धि का अकुश न रहना। यहा भावना शब्द का प्रयोग मन को लक्ष्य कर के किया गया है, परन्तु गीता की शिक्षा में जो 'भावना' शब्द आया है वह हमारी हृद्गत वस्तु का निर्देश करता है। गीता की भावना मन का विकार नही, बल्कि हृदय का गुण है। वस्तुत गीता हृदय व बुद्धि में भेद नही करती; बल्कि यह मानती है कि बुद्धि का जो अन्तरतम भाग—गूदा— है वही हृदय है। "हृदि सर्वस्य विष्ठितम्" "ईश्वर सर्वभूताना हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति" इत्यादि वचनो में हृदय का अर्थ "बुद्धि का भीतरी भाग" ही है। हम जब किसीको "भावना-प्रधान" कहते है तब वास्तव में हम उसे 'विकार-प्रधान' कहना चाहते है। जिस भावना पर बुद्धि की सत्ता नही चलती वही विकार है। गीता को ऐसी भावना अभीष्ट नही। इसके विपरीत जब हम किसीको 'बुद्धि-प्रधान' कहते है तब हमारा आशय यह होता है कि इसमे हृदय की आर्द्रता नही है, केवल तर्क-शक्ति का ही विकास हुआ है, परन्तु स्थित-प्रज्ञ की स्थिति बिलकुल ही दूसरी है। वह अपनी बुद्धि को हृदय के हवाले कर देता है। जो अपनी बुद्धि को घोट-घोट कर भावना में रूपान्तरित कर देता है, उसकी बुद्धि हृदय मे विलीन हो जाती है, उसकी बुद्धि व भावना एकरस हो जाती है।

१०८. बुद्धि को भावना में परिणत करने के उपाय : जप, ध्यान व आचरण।

हमने अबतक बुद्धि का रूपान्तर भावना में करने के साधारण प्रयोगो का विचार किया। अब कुछ विशेष शास्त्रीय प्रयोगो पर विचार कर लेना चाहिए। इसमे पहला है जप। 'जप' का अर्थ केवल 'वाणी से उच्चार' नही, बल्कि मन में भी वही विचार घुटते रहना चाहिए। वाणी इस क्रिया में सहायक होती है। वह क्रिया मनन के जैसी होती है तो भी वह मनन नही है। 'मनन' निर्णय के लिए होता है। जप मे तो पूर्व निर्णय को दृढ किया जाता है। यह वाणी के द्वारा होता है। जप व मनन में यह फर्क है। यदि इस फर्क को भुला दें तो फिर दोनो क्रियाओ में कोई अन्तर नही रह जाता। दूसरा प्रयोग है ध्यान। ध्यान का अर्थ है उस विचार से तन्मयता, उसके अनुकूल उपासना। इसीमें से तीसरा प्रयोग—आचरण—शुरू होता है। 'विचार के अनुकूल सारे जीवन की रचना' उसका स्वरूप होता है। इस तरह १ जप, २. ध्यान व ३. आचरण—इन तीन प्रयोगो से बुद्धि का रूपान्तर भावना में होता है।

१०९. भावना का अर्थ 'भक्ति' भी हो सकता है। भक्ति के बिना शान्ति नहीं, शान्ति के बिना सुख नहीं।

इस विषय का विचार और भी एक दृष्टि से किया जा सकता है। स्थित-प्रज्ञ के लक्षणो मे दर्शित 'बुद्धि' आत्मनिष्ठ बुद्धि है। जब आत्मज्ञान घुट-घुट कर आत्मसात् हो जाता है तब उसका रूपान्तर भक्ति मे होता है। अत यहा भावना शब्द का अर्थ भक्ति भी लिया जा सकता है। बोध को प्रेम का रूप प्राप्त होना, मानो ज्ञान को भक्ति का रूप मिलना है। जब बोध स्थिर हो जाता है तो वह इतना प्रिय लगने लगता है कि मन नित्य निरन्तर उसीमें रमने लगता है। ऐसा होने से बोध का रूपान्तर प्रेम में होता है।

इसलिए भावना का अर्थ भक्ति किया जा सकता है। तभी यह बात समझ में आती है कि प्रेम के बिना अथवा भक्ति के बिना शान्ति नही होती। वोध जब अत्यन्त प्रिय हो जाता है तब मन उसमे रगने लगता है, उससे घिर जाता है, मन्त्रमुग्ध-जैसा हो जाता है। ऐसा हो जाने पर फिर अशान्ति हमें नही छू सकती। पेड की जड को रोज पानी मिलता रहा तो वह सदा लहलहाता रहता है। इसी तरह यदि अन्तर्याम में वोध का झरना सतत वहता रहे, उसे प्रेम का रूप प्राप्त हो गया हो और सतत प्रेम-रस मिलता रहे तो जीवन सदा लहलहाता रहता है। आपत्तिया आ जाने पर भी वे सम्पत्ति का रूप ले लेती है। उनसे शान्ति वढती है। इस तरह वोध व भक्ति का अभेद्य सम्बन्ध है। वोध के विना भक्ति नही, भक्ति के विना शान्ति नहीं, शान्ति के विना सुख नही।

११०. परन्तु सुख का अर्थ मन का सुख नहीं। मन का सुख जुदा है, मनुष्य का सुख जुदा है।

परन्तु यहा सुख का अर्थ मन का सुख नही है। मन का सुख-दु ख और होता है, मनुष्य का और। मन को सुख-दु ख होने से यह लाजिमी नही है कि मनुष्य को भी सुख-दु ख हो ही। आज इतने लोग देश के लिए मानसिक दु ख सहन करते है। उससे चाहे मन को कष्ट होता हो तो भी उन्हें सुख ही मालूम देता है, क्योकि इसमें कल्याण की कल्पना रहती है। जीभ को जो मीठा या कडुवा लगता है वह मनुष्य को भी वैसा ही लगता हो सो वात नही। दवा ज़वान को कडुवी लगती है, परन्तु मनुष्य को मीठी ही लगती है। अत मनुष्य को जव मानसिक दु ख कल्याणकर मालूम होता है तो वह उसे सहर्ष स्वीकार करता है। अत मानसिक सुख-दु ख की व्याख्या से जीवन-दृष्टि से की गई सुख-दु ख की व्याख्या भिन्न है। शरीर को सुख आरोग्य से मिलता है, किंतु शरीर मे वल का मचलना, फूट निकलना, दीवार से टक्कर मारने की उमग पैदा होना, आरोग्य का लक्षण नही है। उसका वल खुद उसीसे नही सभल पाता। वल ही एक वीमारी हो वैठता

हं। आरोग्य का अर्थ है शरीर का समतौल रहना। आरोग्य एक बात है, बल का उद्रेक दूसरी। आरोग्य मे स्वस्थता रहती है। बेकार बल में क्षोभ होता है। उसी तरह जिस सुख से मन को हर्ष होता है वास्तव में वह सुख ही नही है। जीवन के वास्तविक सुख जुदा होते है। उनका निवास शान्ति मे होता है, चित्त की खलबली मे नही। उनका आरम्भ निर्विकारता से होता है। निर्विकारता से वोध, वोध से भक्ति अथवा निष्ठा, फिर शान्ति, व फिर सतत, अरुचि-युक्त सुख—ऐसी परम्परा है।

१११. 'होना' पन का सुख ही सच्चा सुख : वही सतत, अरुचि-युक्त सुख।

दूसरे सुखो से शान्ति भग होती है। अत उनसे जी उकता जाता है। हमेशा वही-की-वही चीज अच्छी नही लगती। मन कहता है, अब इसमे कुछ परिवर्तन हो तो अच्छा; परन्तु आत्मा का सुख ऐसा है कि उससे जी नही ऊबता। मन कहता है कि वह ऐसा ही निरन्तर बना रहे। उससे हम उकताते नही। सगीत चाहे कितना ही मधुर-सुरीला हो, पर चौबीसो घटे कान पर वही-वही राग, स्वर व धुन आते रहने से जी ऊब जाता है। यही बात रगों की है। तरह-तरह के रगो को देखकर थोडी देर के लिए आखो को भला मालूम होता है, परन्तु यदि इन रगो की भरमार आखो पर होने लगे तो वे परेशान हुए बिना न रहेगी। आराम के लिए वे आकाश के रगहीन नीले रग का सहारा खोजने लगेंगी। आकाश के नील वर्ण से आखे थकती-ऊबती नही। इसीलिए उपासना मे ईश्वर का रूप 'गगन सदृश' माना गया है। दूसरे चटकीले रगो में और आकाश के सौम्य रग मे जैसा अन्तर है वैसा ही दूसरे सुख व आत्म-सुख मे है। आत्म-सुख कहते है अपने होने-पन के अखड सुख को। कोई क्षण भर के लिए भी नही चाहता कि मै न होऊ। शरीर छूट जाय, यह तो भले ही कोई चाहे। फला जगह में न रहू, यह भी किसीकी इच्छा हो सकती है; परन्तु यह कोई नही चाहता कि मै बिलकुल न होऊ। अपने अस्तित्व से हमारा जी कभी ऊब ही नही सकता। केवल अस्तित्व

का सुख सतत व अरुचि से परे होता है। शेष सब सुख अस्तित्व पर के विकार हैं। अस्तित्व का हमें जो भान होता है वह भी विकार ही है।

११२. कुम्भक के उदाहरण से इसे समझें।

इसलिए योग-शास्त्र में कुभक के सकेत से आत्मा के केवल अस्तित्व का दर्शन कराया जाता है। श्वास अन्दर लेने की क्रिया पूरी हो चुकी है, बाहर छोडने की क्रिया अभी शुरू नही हुई है। इस बीच का जो अतिसूक्ष्म उभयवृत्ति-वर्जित, निष्क्रिय, तटस्थ क्षण होता है उसका चिन्तन करने से 'केवल अस्तित्व' का दर्शन हो जाता है। इसलिए कुछ गुमराह साधक इस क्षण को अधिक-से-अधिक लम्बाने का स्थूल प्रयत्न—जिसे दीर्घकुभक कहते हैं—साधने का प्रयास करते है। पर सच पूछिये तो जरूरत कुभक को लम्बाने की नही, बल्कि कुभक-दृष्टान्त द्वारा सूचित आत्मस्थिति को पहचानने की और उसी अनुभव में सतत स्थिर रहने की है। कुभक तो एक उदाहरण-मात्र है। ऐसे और भी उदाहरण दिये जा सकते हैं। ज्ञानदेव ने अपने 'अमृतानुभव' में ऐसे अनेक दृष्टान्त एक जगह एकत्र किये है। 'रात समाप्त हुई, दिन का आरम्भ अभी नही हुआ है।' 'वर्षाकालीन नदी का चढाव समाप्त हो गया है, परन्तु अभी ग्रीष्मकालीन उतार शुरू नही हुआ है।' जैसे ये दृष्टान्त है वैसे ही कुभक भी एक दृष्टान्त ही है। अब कुभक-प्रक्रिया को शारीरिक कारणो से लम्बाना हो तो बात दूसरी है। आध्यात्मिक दृष्टि से तो सिर्फ मध्यस्थ दशा की ओर ध्यान खीचना है। केवल निरुपाधिक मध्यस्थ दशा लक्ष्य है। हमें अपने सारे जीवन की तमाम उपाधियो से मुक्त होना चाहिए। 'मै यह हू', 'मै वह हू'—ऐसे तमाम विशेषणो को निकालने में समर्थ हो जाना चाहिए। तमाम गुण-दोषो का निरास करते-करते मनुष्य का जो मूल उपशान्त स्वरूप शेष रह जाता है उसीमें सुख है। यह दिखाने के लिए कि शान्तिमय सुख दूसरे साधारण सुखो से भिन्न है जो उसे नित्य-सुख, आत्मसुख, चित्त-सुख आदि कहते है। वही वास्तविक सुख है, इसलिए उसे

'सत्यसुख' भी कह सकते हैं। 'सच्चिदानन्द' शब्द में यही भाव सूचित किया गया है। आत्मा में बुद्धि के स्थिर हो जाने के बाद वह सुख प्राप्त होता है। इसलिए जिसकी प्रज्ञा स्थिर हो गई है उसका जीवन सुखी है।

११३. आत्म-सुखानुभूति का व्यवहार से विरोध नहीं है। इतना देख लेना काफी है कि आत्मबोध बाह्य उद्योगों में खर्च न हो।

यहा यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि यदि हम आत्मा से बाहर के विषयो में बुद्धि को डालें ही नही तो लोक-व्यवहार कैसे चलेगा ? जैसे यदि चमड़े का व्यवसाय तो करे; पर उसमे बुद्धि न लगावें तो फिर वह उद्योग चलेगा कैसे ? उसे करें भी क्यो ? यदि बुद्धि को आत्मा में स्थिर रखना है तो फिर ये बाहर के काम-काज ---उद्योग---होंगे कैसे ? इसका समाधान यह है कि सामान्य लोक-व्यवहार में जिस बुद्धि का उपयोग होता है वह बुद्धि की एक शक्ति है। उसे तर्क कह सकते है। बाहरी बातो में उससे काम लिया जाय तो हर्ज नही, परन्तु 'अह बुद्धि' नामक जो बुद्धि का गूदा---सारभाग-है उसे आत्मा में स्थिर रखकर हमें तटस्थ रहना चाहिए ! आत्म-बोध को बाहरी उद्योग में खर्च न करना चाहिए। साधारण बुद्धि को लोक-व्यवहार में लगाकर दूसरी तरफ आत्मबोध में लीन रहना है तो मुश्किल; परन्तु इस कारणवश उसे छोड नही देना चाहिए। निरन्तर प्रयत्न करने से वह सध जायगा; क्योकि वह कृत्रिम नही है। अतः यह निश्चित है कि उसमें सफलता मिलेगी ।

११४. आत्मबोध को खण्डित न होने देने की तरकीब: पहले क्षण आघात का असर न होने दे।

इसकी मैंने एक तरकीब खोज निकाली है। किसी भी बाह्य वस्तु का परिणाम उसी क्षण न होने देना चाहिए। दूसरे क्षण हो तो परवाह नही, परन्तु पहले क्षण तो न होने देना चाहिए। किसीने विनोद किया, पहले क्षण

आप मत हसिए। किसीने एक तमाचा जड़ दिया, पहले क्षण आखो में आसू मत आने दीजिए। पहले क्षण तो यह प्रतीत होने दीजिए, मानो यह भगवान् का स्पर्श है। दूसरे क्षण चाहे तो भले ही आसू आ जावें। मा के मर जाने की खबर आ जाय तो पहले क्षण हृदय को धक्का मत लगने दो। अपनी शान्ति को विचलित न होने दो। यदि आपने अपने मन को इतना साध लिया तो फिर आगे की बातें अपने आप सध जायगी।

बारहवां व्याख्यान

[१]

११५. इन्द्रियों के पीछे जाने वाला मन बुद्धि को भी खींच ले जाता है। इसलिए संयम की आवश्यकता।

इसके अगले श्लोक मे सयम की आवश्यकता फिर एक दूसरी तरह से वतलाई है—

इन्द्रियाणा हि चरता यन् मनोऽनुविधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञा वायुर्नावमिवाम्भसि ॥

जव इन्द्रिया स्वच्छन्द वर्तने लगती है और मन उनके पीछे जाता रहता है तो फिर वुद्धि ज्यो-की-त्यो साबित व तटस्थ नही रह सकती। जव मन इद्रियो की तरफ चला जाता है तो इद्रिया व मन मिलकर उनका पक्ष प्रवल हो जाता है। फिर वुद्धि अपना काम नही कर पाती। इसका अर्थ यह नही कि वुद्धि नष्ट हो जाती है। वुद्धि का अवुद्धि हो जाना शक्य नही है। इसलिए वह कुवुद्धि वन जाती है और उस दशा मे वह अवुद्धि से भी ज्यादा अनर्थकारिणी हो जाती है; परन्तु मन यदि वुद्धि की तरफ आ जाय तो फिर वुद्धि का पक्ष जोरदार हो जायगा और इद्रियो को उनके पीछे चलना पडेगा। जव वुद्धि के अनुकूल मन और मन के अनुकूल इद्रिया हो जाती है तव जीवन का सारा व्यवहार आत्मा के अनुकूल हो जाता है। इसके विपरीत यदि इद्रियो के पीछे मन और मन के पीछे वुद्धि चलने लगे तव वह अंट-शंट प्रयोग करने लगती है और मन के पक्ष का समर्थन करने के लिए

तरह-तरह के कुतर्क रचने लगती है। ऐसा होने पर जीवन का सारा व्यापार आत्मा के प्रतिकूल होने लगता है।

११६. बुद्धि नौका की तरह तारक, परन्तु मन की पकड में आजाय तो वही मारक हो जाती है।

पहले एक जगह बुद्धि-नाश की परम्परा बताते हुए एक श्लोक में यह कहकर कि विषय-चिन्तन द्वारा पहले मन पर आक्रमण होता है, अगले श्लोक में यह अलग से दिखाया है कि फिर मोह आदि उत्पन्न होकर उनकी आच बुद्धि को कैसे लगती है। इसीका स्पष्टीकरण यहा किया जा रहा है। जब सवार के हाथ में लगाम और लगाम के बस में घोडा हो तो तब सवार बेखटके मुकाम पर पहुच सकता है; परन्तु इसके विपरीत घोडे के बस में लगाम और लगाम के बस में सवार हो जाय तो फिर मुकाम पर पहुचने की कोई आशा नही, ऐसा कठोपनिषद् में विवेचन किया गया है। वही बात यहा नाव की उपमा देकर समझाई गई है। बुद्धि नाव की तरह तारक है; परन्तु वह यदि हवा के चक्कर मे आ गई तो फिर पार नही लगा सकती। बुद्धि यदि मन की पकड में आ जाय तो फिर उसकी तारक-शक्ति नष्ट हो जाती है और वह डुबोने का कारण बन जाती है।

११७. बुद्धि और मन सदा के लिए जुदा नहीं हो सकते। या तो बुद्धि मन के वश में हो जायगी, या मन बुद्धि के वश में रहेगा। दूसरी बात श्रेयस्कर।

यदि ऐसी कोई तरकीब होती कि जिससे मन इद्रियो के पीछे चला जाय तो भी वह बुद्धि को न छू सके तब तो हम कह सकते थे कि वह खुशी से जाय, हमारा क्या बिगडेगा। बुद्धि व आत्मा का पक्ष मजबूत हो जाने पर हम यह मान सकते हैं कि मन यदि इद्रियो के चक्कर में आकर विषयो की ओर झुके भी तो हमें परवाह नही है। हम लोगो को ऐसा कहते हुए सुनते भी है कि "भले ही हम विषय-विलास में लगे हो तो भी हमारी बुद्धि उसमें

फंसती नही है। विचार करते समय हम उस विषय को भूलकर तटस्थता के साथ विचार करते है।" परन्तु यह भ्रम है। ऐसा हो नही सकता। हो तो यह सकता है कि इद्रिया, मन व बुद्धि तीनो को एक पक्ष में डालकर हम उनसे भिन्न या पृथक रहे; क्योकि आत्मा बिलकुल भिन्न—पृथक है। आत्मा व बुद्धि-के बीच में खाली जगह है। उनके बीच में आप दीवार खडी कर सकते हैं। परन्तु वह तभी हो सकता है कि जब आप स्थितप्रज्ञता प्राप्त कर लें। यही वेदात है। यह है तो कठिन, परन्तु शक्य है। मन व बुद्धि के बीच खाली जगह नही है। वे परस्पर सम्बद्ध है। इसलिए जिस तरह आत्मा एक ओर और बुद्धि, मन तथा इद्रिया दूसरी ओर—ऐसे दो टुकडे खुशीसे किये जा सकते है वैसे आत्मा व बुद्धि एक ओर और मन व इद्रिया दूसरी ओर, ऐसे टुकडे करने की गुजाइश नही है। तब फिर या तो इद्रियो के अधीन मन व मन के अधीन बुद्धि हो सकेगी अथवा बुद्धि के अधीन मन व मन के अधीन इद्रिया हो सकेंगी। इनमें दूसरा मार्ग इष्ट व श्रेयस्कर है, ऐसा सकेत यहा किया गया है।

[२]

११८. ज्ञानदेव का खास सुझाव : ज्ञानी के लिए भी असावधान होकर इन्द्रियों को खुला छोड़ देने की गुंजाइश नहीं।

परन्तु इस श्लोक में यदि इतना ही बताया गया होता तो कोई बडी बात नही थी। अत. इसमें कोई विशेष अर्थ गर्भित होना चाहिए। जरा बारीकी से हम उसकी खोज करे। ज्ञानदेव ने यह अर्थ स्पष्ट किया है। उनके मतानुसार इस श्लोक में खतरे की घटी बजाई गई है। इसमें यह सूचित किया गया है कि मनुष्य भले ही लगभग स्थितप्रज्ञ हो गया हो तो भी उसे गाफिल न रहना चाहिए। ज्ञानदेव कहते है—

"प्राप्त पुरुष भी
यदि कुतूहल से इद्रियो को दुलरावे

तो उसपर सासारिक दु खो के द्वारा
आक्रमण हुआ ही समझो।"

'प्राप्त' कहते हैं पहुचे हुए पुरुष को, अर्थात् जो मजिल पर पहुच गया है। तो ऐसा स्थिरबुद्धि पुरुष इद्रियो को लाड क्यो लडाने लगा? इस लिए कुतूहल से कहा है। वह यदि सहजभाव से कुतूहल से असावधानी अथवा गफलत मे आकर इद्रियो को खुला छोडने लगे तो फिर उसका भी मन उससे भी वलवान होकर उसे खीच ले जायगा। यदि इस बात पर विचार किया जाय कि यह अर्थ ज्ञानदेव को कैसे सूझा होगा तो उसमें उनकी बुद्धि की सूक्ष्मता का परिचय मिलता है। इस श्लोक में यह नही कहा गया है कि जिस तरह हवा नाव को खीच ले जाती है उस तरह मन बुद्धि को खीच ले जाता है। बुद्धि की जगह यहा जो 'प्रज्ञा' शब्द का प्रयोग किया गया है सो क्या फिजूल है? इस 'प्रज्ञा' शब्द से ज्ञानदेव ने यह आशय लिया कि मनुष्य को किसी भी दशा मे अपने मन को खुला न छोडना चाहिए। समर्थ रामदास ने भी अपने 'मनाचे श्लोक' में अन्तिम उपदेश इसी तरह का दिया है "मना गूज रे तूज हे प्राप्त जालें" अर्थात् अरे मन, तुझे जो-कुछ मिलना था सो सव मिल गया है। तू अपने मुकाम पर पहुच गया है। फिर भी गाफिल रहना ठीक नही। "तरी अन्तरी पाहिजे यत्न केले।" रहस्य पा लेने पर भी तू अपना हाथ खीच के ही रख। लगाम ढीली मत छोड। अर्थात् उनका आशय यह है कि बुद्धि के स्थिर होकर प्रज्ञा-रूप हो जाने के बाद भी हम गाफिल न रहें, लगाम ढीली न करे।

११९. वस्तुतः ज्ञानी नियम से संयमी नहीं रहता, स्वभाव से रहता है।

परन्तु ज्ञानदेव ने एक दूसरी जगह कुछ दूसरे प्रकार के उद्गार प्रदर्शित किये है। "गगा जब समुद्र के पास जा पहुचती है तो उसकी गति मन्द हो जाती है।" "शत्रु को जीत लेने पर तलवार का हाथ ढीला हो जाता है।"

इन उद्‌गारो से यह ध्वनित होता है कि ज्ञानी पुरुष को साधना की जरूरत नही रहती। और यहा तो उन्होने उसके लिए खतरे की घटी बजाई है। इन दोनो बातो में मेल कैसे बैठावे ? इसका मेल यह है कि ज्ञानी के लिए सावधानता ही सहज हो जाती है। ब्रह्मसूत्र-भाष्य में शकराचार्य ने यही अर्थ कुछ भिन्न भाषा मे दिया है। "आत्मज्ञानी स्वच्छद आचरण कैसे करेगा ? स्वच्छद आचरण के लिए भी तो कुछ अहकार आवश्यक होगा न ? " उनकी यह उक्ति बडी मार्मिक है। वह तो सयम के ही सहारे स्थित-प्रज्ञ हुआ है। वह असयत व्यवहार करेगा कैसे ? सयत व्यवहार ही तो उसका स्वभाव है। स्थित-प्रज्ञ के लिए अब नियम नियम नही रहता, सयम सयम नही रहता। उसके पास ऐसा भेद-भाव बाकी नही रहता कि नियम मुझसे कुछ भिन्न है और मुझे उनका पालन करना है। सूर्य नियम के कारण प्रकाशित नही होता, स्वभाव से होता है। गगा नियम के कारण नही बहती, स्वभाव से बहती है। यही स्थिति स्थित-प्रज्ञ की होती है।

१२०. ज्ञानी तो ठीक; परन्तु साधक को भी संयम भाररूप नहीं होता।

पर क्या इन्द्रिय-सयम उसके लिए एक बोझ होता है ? उलटे इन्द्रियो का असयम ही एक बोझ हो रहता है। कोई व्यक्ति गणित पढकर पार-गत हो गया, बडा गणितज्ञ बन गया। तो क्या वह यह चाहेगा कि अब मेरे लिए गणित के नियम न रहे ? क्या वह यह कहेगा कि अब मेरे लिए दो और दो चार नही, बल्कि तीन हुआ करें ? यदि हा, तो फिर उसका गणित ही खतम हुआ व कहना होगा कि उसका दिमाग मुकाम पर नही है। जबतक हम यह समझते रहेगे कि सयम एक बोझ है, बोझ है, बोझ है, तबतक वह अप्रिय ही लगेगा। साधक भी तो ऐसा नही समझता। हा, यह ठीक है कि साधक को शुरू-शुरू में सयम थोडा तापदायक मालूम होगा। और वह तापदायक होता है, इसीसे तो उसे 'तप' कहा है। यदि सयम में बिलकुल ही ताप न हो तो फिर वह 'तप' किस बात का ? परन्तु शुरू में यद्यपि सयम थोड़ा तापदायी

हो तो भी साधक उसे बोझ कभी नही मानता, उलटा उसे उसके लिए उत्साह ही रहता है। मुसाफिर को लड्डू की झोली क्या भारी लगेगी ? अत जब खुद साधक को ही सयम भार-रूप नही होता तो फिर स्थित-प्रज्ञ के लिए तो उसका सवाल ही कहा रहा ?

१२१. स्थितप्रज्ञ के लिए असंयम अशक्य : क्योंकि स्थिर-बुद्धि का तो आधार ही संयम है।

ऐसी सहजावस्था जिसके लिए सावधानता की अपेक्षा न हो, एक तरह से मनुष्य की आकाक्षा-मात्र है। निदान लाखो लोगो के लिए तो वह ऐसी ही है। इस देह मे स्थित-प्रज्ञ की पूर्ण व्याख्या तक पहुच जाना अशक्य न हो तो भी बहुतो की दृष्टि से वह अशक्य-प्राय है। साधक की भूमिका जैसे-जैसे प्रगत होती जायगी वैसे-वैसे स्थित-प्रज्ञ की व्याख्या का अर्थ भी सूक्ष्म होता जायगा। और इसलिए मनुष्य सहसा ऐसी स्थिति को नही पहुच सकेगा जिसमे वह यह मान सके कि मै स्थित-प्रज्ञ हो गया। एक दृष्टि से यह इष्ट भी है। जबतक देह कायम है तबतक विकास की गुजाइश होना वाछनीय है; बल्कि देह का अस्तित्व ही इस बात का एक सकेत समझना चाहिए कि ऐसी गुजाइश है। टाल्स्टाय के कथनानुसार साधक और उसके ध्येय मे इस तरह निरन्तर पकडा-पकडी का खेल चालू रहने मे ही मजा है। साधक को जहा यह लगने लगा कि ध्येय को मैने 'यह पकडा' कि तुरन्त उसने कहा—'मै यह खिसका' और आगे दौड गया। इसीमे साधना की प्रतिष्ठा है। अत साधक के लिए खतरे की घटी बजा देना हर हालत मे उचित ही है। किंतु इससे यह अनुमान अलबत्ते न निकाल लेना चाहिए कि तो फिर 'ध्येय-प्राप्ति कभी हो ही नही सकती।' ईश्वर-कृपा से ध्येय-प्राप्ति अवश्य होगी। परन्तु जिस क्षण मनुष्य के मन मे यह कल्पना आ गई कि अब मै पहुच गया, अब मुझे अपने मन को खुला छोड देने मे हर्ज नही है तो उसी क्षण वह प्राप्ति चली गई, खो गई—ऐसा समझना चाहिए। कई बार ऐसा हो जाता है कि तैराक नदी के किनारे पर पहुचता है, किनारे पर हाथ टेक भी देता है, परन्तु फिर हाथ छूटकर वह पानी मे बह जाता है। अत हाथ का किनारे को छू जाना काफी नही है। जब पाव किनारे पर चढ जाय तभी समझना चाहिए कि हम पहुच गये। अत यह कहना कि ठेठ अन्त तक सयम मे ढिलाई नही चल सकती, साधक के हित में है।

[३]

१२३. इस तरह संयम की आवश्यकता आदि से अन्त तक सिद्ध हुई, अतः निगमन ।

इस तरह सयम की आवश्यकता शुरू से आखिर तक साबित हुई, अर्थात् वह सोलहो आना साबित हुई। इतना सिद्ध हो जाने पर अब 'तस्मात्' शब्द डालने में आपत्ति नही ।

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वश ।
इद्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस् तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।।

इसमें 'तस्मात्'—'इसलिए' शब्द डालकर शुरू की प्रतिज्ञा को केवल दुहराया है। तर्क-शास्त्र में इसे 'निगमन' कहते है। शुरू में असली सिद्धात बताना, फिर युक्तियो से उसे सिद्ध करना और अन्त में फिर उस प्रतिज्ञा को दोहराना, यह तर्कशास्त्र की रीति है । इस विधि से शास्त्र का समाधान हो जाता है। यह रेखागणित के क्यू ई डी अर्थात् 'इति सिद्धम' की तरह है। गीता में अक्षरश तर्कशास्त्र की पद्धति का अवलम्बन नही किया गया है। शास्त्र के चौखटे में फसाकर साधारण मनुष्य की बुद्धि को व्यर्थ ही परेशान करने मे उसे रुचि नही है। अत उसने अपने विवेचन में ऐसी सरल सम्वाद-पद्धति का आश्रय लिया है, जिससे साधारण मनुष्य भी समझ सके। फिर भी वह शास्त्र की उपेक्षा नही करती है और यह विवेचन तो खास करके सयम की तात्विक उपपत्ति बतलाता है, इसलिए शास्त्रीय शैली आवश्यक भी हो गई है। अत शास्त्र के सतोष के लिए यह एक श्लोक और खर्च किया है । 'यदा सहरते चाय कूर्मोऽङ्गानीव सर्वश 'इस श्लोक में जो कहा है, बिलकुल वही यहा दोहराया है। सिर्फ कछुए की उपमा को छोडकर इस श्लोक का ज्यो-का-त्यो पुनरुच्चार किया गया है । यही निगमन का स्वरूप होता है ।

तेरहवां व्याख्यान

[१]

१२४. अन्तिम विभाग: स्थित-प्रज्ञ की स्थिति का खुलासा।

स्थित-प्रज्ञ के लक्षणो के दो विभाग समाप्त हुए। अब तीसरा और अन्तिम विभाग शुरू होता है। पहले चार श्लोको के विभाग में स्थितप्रज्ञ की व्याख्या और उस व्याख्या का विवरण बताया गया है। मध्यम विभाग में उसी सिलसिले मे तीन श्लोको में सयम का विज्ञान और सात श्लोको में सयम का तत्वज्ञान खोलकर बताया। अब अन्तिम विभाग में स्थित-प्रज्ञ की स्थिति का खुलासा करके उसकी फल-श्रुति कहनी है। तीन श्लोको की एक त्रिसूत्री मे स्थिति का खुलासा होगा और अन्तिम श्लोक में फल-श्रुति कही जायगी।

१२५. खुलासे का पहला सांकेतिक श्लोक। इनकी रात सो उसका दिन और उसकी रात सो इनका दिन।

या निशा सर्वभूताना तस्या जागर्ति सयमी।
यस्या जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुने.॥

यह खुलासे का पहला श्लोक है। इसका अक्षरार्थ इस प्रकार है—"जहा प्राणिमात्र सोते रहते है वहा स्थितप्रज्ञ जगता रहता है। और जहा प्राणिमात्र जगते रहते है वहा स्थितप्रज्ञ मजे मे सोता रहता है।" परन्तु यहा अक्षरार्थ नही लेना है, लाक्षणिक अर्थ लेना है, यह कहने की जरूरत नही। यदि शाब्दिक अर्थ लेगे तो यह श्लोक स्टेशनमास्टर, चोर, रातपालीवाले

मज्र आदि पर घटेगा। गाधीजी ने इस श्लोक का थोडा-सा अक्षरार्थ भी दुहने का प्रयत्न किया है। "साधारण लोग रात का समय विलास आदि में विताते हैं और सुबह सोते रहते है, परन्तु सयमी रात मे सो जाता है और तडके ही उठकर मनन-चिन्तन मे लग जाता है।" इस तरह उन्होंने इसका उपयोगी अक्षरार्थ दुह लिया है, परन्तु उन्होंने भी इसके शाब्दिक अर्थ को मुख्य नही माना है। वे जानते हैं कि इसका सूक्ष्म व लाक्षणिक अर्थ ही ग्रहण करना है और उन्होंने आगे चलकर अपनी पद्धति के अनुसार वैसा अर्थ किया भी है।

१२६. अर्थात् स्थितप्रज्ञ की कुल जीवन-दृष्टि ही दूसरो से उलटी होती है।

इस श्लोक के रूपक के द्वारा स्थित-प्रज्ञ की जीवन-दृष्टि वताई गई है। स्थित-प्रज्ञ की जीवन-दृष्टियो में वडा फर्क है। जैसे दो समानान्तर रेखाओं का कही स्पर्श-विन्दु ही नहीं होता वैसी ही स्थिति इन दोनो की जीवन दृष्टियो की है। स्थितप्रज्ञ की निगाह ही वदल जाती है। मीरावाई ने कहा है—'उलट भई मोरे नयनन की'—ऐसी उसकी हालत हो जाती है। सच पूछिये तो उसकी दृष्टि उलटी नही होती, वल्कि वही सुलटी होती है। ससार की ही दृष्टि उलटी है, परन्तु वह वहु-सख्यक लोगो की होने के कारण सुलटी समझी गई है। वहु-सख्या को क्यो दोप दे ? इसलिए मीरावाई ने अपनी ही दृष्टि को उलटा कह दिया। सो, जव हमारी जीवन-दृष्टि में ही फर्क हो गया तो फिर जीवन की तमाम क्रियाओ मे वह चरितार्थ होता जायगा।

१२७. जैसे खाना।

जैसे खाना शरीर-धारण के लिए आवश्यक है; साधारण मनुष्य खाना खायेगा और स्थितप्रज्ञ भूखा रहेगा सो वात नही। स्थित-प्रज्ञ भी भोजन करेगा। दोनो की वाहरी क्रियाए एक-सी होगी, परन्तु वृत्ति, विचार व भावना एक-सी न होगी। स्थित-प्रज्ञ का भोजन मानो एक यज्ञ होगा। वह

केवल शरीर-धारण के लिए तटस्थ भाव से किया जायगा। वह उपनिषद की और शंकराचार्य की भाषा मे 'औषध-रूप' या गाधीजी की भाषा मे 'जिस घर में हम रहते है उसका भाडा देना पडता है', या एक वैज्ञानिक की भाषा मे 'जब यन्त्र से काम लेते हैं तो उसे तेल भी देना ही चाहिए'—इस तरह का होगा। शरीर स्वस्थ और कार्यक्षम रखने के लिए वह उसे आहार देगा। उसमे उसकी भोग-वृत्ति न रहेगी। जबकि और लोगो के भोजन मे भोग, आनन्द, मौज-मजा का भाव होगा। उसके लिए कितनी बुद्धि, समय और श्रम खर्च किया जाता है! कैसा भारी आयोजन व सगठन किया जाता है! आधा मानव-समाज—सभी स्त्रिया लगभग उसी काम मे लगा दी गई है। तो भोजन का इतना बडा आडम्बर कर दिया गया है। स्थितप्रज्ञ का भोजन शास्त्रीय दृष्टि से होगा और उसके मूल मे गम्भीर हेतु होगा, जबकि औरो का भोगमय व वालिश होगा।

१२९. यही बात मामूली व्यवहार में।

यही बात साधारण व्यवहार के विषय में भी। मानापमान की नीव पर ही लोगो का बहुत-सा समाज-शास्त्र व नीति-शास्त्र रचा गया है; किन्तु इसकी तो मानापमान से जान-पहचान ही नही। मनुष्य सहसा कभी भी सहज भावसे खुलकर नही वर्तता। जहा-तहा शिष्टाचार के नाम पर उसे अपना व्यवहार दम्भ-परिवेष्टित रखना पडता है। उसका जीवन सदा पोशाक-पहनाव से ही सजाया रहता हैं। हर जगह बनावट व ढोग चाहिए। सभा में एक प्रकार का ढोग तो समाज में दूसरे प्रकार का, कुटुम्ब में तीसरे प्रकार का, उत्सव में और तरह का, खेल में उससे भी अलग ढग का, इस तरह सब जगह ढोग और ऊपरी सजावट उसके जीवन मे रहती है, परन्तु स्थितप्रज्ञ की सभी बातें स्वाभाविक, सरल व खुली होती हैं। इसी तरह उसका साधारण व्यवहार भी दूसरो से बिलकुल साफ तौर पर उलटा दिखाई देगा।

[२]

१३०. यहाँ के रूपक की भाषा में सांख्य-बुद्धि, योग-बुद्धि और स्थितप्रज्ञ के लक्षण तीनों एक में लपेट दिये है।

परन्तु यद्यपि हमने गीता के रूपक की भाषा में से इस तरह अपने विचार से अर्थ निकाला तो भी भला खुद गीता क्या सूचित करती है? देखने में ऐसा मालूम होगा मानो कुछ भी नही सुझाती है, सिर्फ रूपक की भाषा बोलकर चुप रह जाती है; पर वस्तुत ऐसा नही है। स्थित-प्रज्ञ के लक्षण के बाद गीता का दूसरा अध्याय और सूत्र-रूप में गीता भी समाप्त हो जाती है। इसलिए जो विषय शुरू से विस्तार के साथ बताये उन सबका समावेश इस श्लोक में किया गया है। पहले तो निर्गुण साख्यबुद्धि, फिर तदुपकारक सगुण योग-बुद्धि और अन्त में स्थितप्रज्ञ के लक्षण जिनमें इन दोनो की परिणति दिखाई देती है—ऐसे तीन विषय अभी तक बताये गए है। इन तीनो विषयो का सार गीता इस श्लोक के रूपक द्वारा पेश करती है।

१३१. सांख्य-बुद्धि का स्वरूप : आत्मा का अकर्त्तापन, तदनुसार प्रस्तुत श्लोक का पहला अर्थ ।

(१) साख्यबुद्धि का मतलब है आत्मा के स्वरूप का ज्ञान । तो यह ज्ञान प्राप्त कर लेने की झझट शुरुआत में ही क्यो ? इसलिए कि आत्मा का ज्ञान किसी गैर का ज्ञान नही है । आत्मा कोई गैर नही है । वह मैं ही हू । अत. उसका स्वरूप सबसे पहले जान लेना जरूरी है । गीता कहती है—"आत्मा मरता नही, मारता नही, मरवाता नही ।" मनुष्य का किसी क्रिया से सबध तीन ही प्रकार से आता है—कर्त्तरि, कर्मणि और हेतुकर्त्तरि अथवा प्रेरक । ये तीनो आत्मा पर लागू नही होते । वह क्रिया का न कर्त्ता है, न कर्म है, न प्रेरक ही । इतना व्यापक अर्थ यहा सूचित है । मरना-क्रिया को सिर्फ उदाहरण के तौर पर लिया गया है । इसका अर्थ यह है कि वह सब क्रियाओ से सब तरह अस्पृष्ट है । शाकर-भाष्य में आत्मा के इस अकर्त्ता-स्वरूप का विवरण आईने की तरह साफ किया गया है । आत्मा के अकर्त्तास्वरूप के ज्ञान को प्रकाश कहिए । इसके विपरीत अर्थात आत्मा को कर्त्ता समझना अधकार हुआ । इस अधकार मे तमाम प्राणियो का जीवन अन्धा बन गया है ; परन्तु स्थितप्रज्ञ का जीवन आत्मा के प्रकाश मे नित्य प्रकाशित है । यह प्रस्तुत श्लोक का पहला अर्थ है । साधारण मनुष्य 'मैं फला कर्म का कर्त्ता', 'मेरे कर्म अच्छे', 'मैं फला का बेटा', 'फला सम्पति का मालिक', 'मेरा यह आकार', 'यह उमर', 'यह जाति', इत्यादि भावनाओ का जाल अपने आस-पास फैलाकर असख्य कर्मों का बोझ अपने ऊपर लाद लेता है । जबकि स्थितप्रज्ञ यह समझता है कि ये सब मुझपर लागू नही होते और सिर्फ 'स्वरूपावस्थान' इस एक ही धर्म को जानता है । इतना दोनो के जीवन मे भेद है । तो फिर इसे प्रकाश व अन्धकार न कहे तो क्या कहे ?

१३२. योग-बुद्धि का स्वरूप : फलत्याग ।

(२) योग-बुद्धि :—आत्मा अकर्त्ता है, इसलिए यदि देह से भी कर्म छोड बैठोगे तो तमोगुण में जा पडोगे । इसके विपरीत यदि कर्म करोगे तो

रजोगुण मे पडोगे—ऐसा दुहेरा पेच है। अत गीता ने एक तरकीब निकाली। कर्त्तृत्व जहा जोर मारता हो वही उसे तोड डालो । तो कर्त्तृत्व जोर मारता कहा है ? फल के अवसर पर। "मैंने काम किया है तो मै वेतन का अधिकारी हू।" फल के सबध में इस तरह कर्त्तृत्व का हक जोर मारता रहता है। अत फल का अधिकार छोड देना ही मानो कर्त्तापन को छोड देना है। फलाशा की नोक तोड डाले तो फिर कर्त्तृत्व-विषयक अभिमान चला जाता है। गीता कहती है—"तुमने आत्मा का अकर्त्तापन मान लिया है। तब जबकि कर्म ही तुम्हारा नही है तो फिर फल कहा से होगा ?" 'मै देह से भिन्न अकर्त्ता हू' ऐसा अभ्यास कर्म को छोड देने से नही हो सकता। फल को छोडने से ही होगा। आत्मा के अकर्त्तापन की अनुभूति का आरम्भ कर्म-च्छेदन से नही, फलच्छेदन से होता है। इस तरह बिलकुल 'बालोद्यान' पद्धति से अकर्त्तापन के अभ्यास का पदार्थ-पाठ गीता ने हमें पढाया है। फल को तोड फेकते जाओ तो फिर कर्मों को तोड फेकने की जरूरत नही रहेगी। समाज-शास्त्र व नीति-शास्त्र के अनुसार तुम्हे फल का अधिकार है, परन्तु तुम तो अब गीता के अनुयायी हुए हो न ? गीता-माता का बालक होने का सौभाग्य तुम्हे प्राप्त हुआ है। अत उसके बालक के अनुरूप ही फल-त्याग का ऐश्वर्य तुम्हे प्राप्त हुआ है।

१३३. आनुषगिक चर्चा —'मा फलेषु' का यह अर्थ कि फल का अधिकार नही, गलत है।

गीता का वचन जो फल को तोड डालने की युक्ति बताता है, प्रसिद्ध ही है "कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।" परन्तु इसका अर्थ ठीक नही किया जाता। 'तुम्हे कर्म करने का अधिकार है, फल का नही।' ऐसा इसका अर्थ किया जाता है, परन्तु जब यह पूछते है कि यदि कर्म का अधिकार है तो फिर फल का क्यो नही ? तो इसका उत्तर दिया जाता है कि फल पाना मनुष्य के हाथ की बात नही है। वह अनेकविध बाहरी परिस्थिति पर अवलम्बित है, अर्थात् यह दैववाद हुआ। इसमें बिलकुल ही तथ्य न हो सो

वात नही, परन्तु उससे यहा प्रदर्शित विचार सिद्ध नही हो सकते; क्योकि यदि और जिस कारण से फल पाना मनुष्य के हाथ मे नही है तो और उसी कारण से कर्म भी मनुष्य के हाथ मे नही है। दोनो अनेकविध वाह्य परिस्थिति पर अवलम्बित रहते है। जो वात फल के विपय मे है वही कर्म के विपय मे भी है। यदि कर्म का अधिकार है तो फल का भी है। भले ही परिपूर्ण न हो, आशिक ही हो, पर है जरूर। यदि फल का अधिकार नही है तो फिर कर्म का भी नही हो सकता। अत यह अर्थ हमारे काम का नही है।

१३४. फल का अधिकार तो है, पर उसे छोड़ देना है।

तो फिर इस वचन का सही अर्थ क्या है ? इसके लिए जरा सस्कृत के व्याकरण पर ध्यान देना होगा। यहा 'मा फलेपु' कहा हे, 'न फलेपु' नही। व्याकरण के अनुसार 'मा' के बाद 'अस्ति' या 'भवति' ऐसी वर्तमानकालीन क्रिया नही आती। 'अस्तु' या 'भवतु' ऐसा रूप आता है। तदनुसार "कर्मणि एव ते अधिकार अस्तु, फलेपु मा अस्तु।" इस तरह पूरा वाक्य वनता है। उसका अर्थ है 'कर्म का ही तुझे अधिकार रहे, फल का नही।' परन्तु व्याकरण के अनुसार यद्यपि हमने ऐसा अर्थ-शोधन किया तो भी आखिर कहना क्या है ? यह कि "कर्म का अधिकार है, अतएव फल का भी है, लेकिन तू कर्म का अधिकार तो रख, परन्तु फल का छोड दे।" यह क्यो ? तो गीता कहती है कि तुम्हारा तत्वज्ञान ही यह बताता है कि मै कर्त्ता नही हू। अत यदि तुम्हे अपने अकर्त्तापन का अनुभव करना हो तो तुम फल को ग्रहण मत करो।

१३५. नीति-शास्त्र की भूमिका : जिसका कर्म उसको फल।

इस विपय मे स्थितप्रज्ञ की व औरो की भूमिका म वडा अन्तर है। साधारण लोगो की भूमिका यह कहती है—"करूगा तो फल के लिए करूगा, नही तो कर्म ही छोड दूगा। लूगा तो फल के सहित लूगा, छोडूगा तो कर्म के सहित छोडूगा।" इतना ही होता तो मेहरवानी थी: परन्तु कितने

है कि आत्मा से किसी क्रिया का संबध नही है। और आत्मा को क्रिया का स्पर्श न होने देने की तरकीब है फल को छोड देना।" यह तत्त्वज्ञान ही गीता के कर्म-योग की बुनियाद है। बहुत लोग कहते है कि गीता के आरम्भ में ही यह तत्त्वज्ञान फिजूल डाल दिया। पहले कर्मयोग बताना चाहिए था; परन्तु यह खयाल गलत है। गीता का कर्मयोग आत्म-ज्ञान की नीव पर ही खड़ा हो सकता है। वह केवल कर्म करने के लिए नही कहता, बल्कि फल छोडने के लिए कहता है। यदि आत्मज्ञान-सबधी भाग उसमें से निकाल डाले तो फिर फल-त्याग का तत्त्व टिक ही नही सकता। कर्मत्याग पूर्णरूप से सम्भवनीय नही; क्योकि मै यद्यपि आत्मस्वरूप हू तथापि वर्तमान स्थिति में शरीर से घिरा हुआ हू। दूसरी ओर, फलयुक्त कर्म का हिसाब ठीक नही बैठता, क्योकि 'मै अकर्त्ता हू' यह भावना दृढ है। देह की बदौलत कर्म छूटता नही और हमारे अपने तत्त्वज्ञान के कारण फलयुक्त कर्म का हिसाब बैठता नही। इस तरह इन दोनो तरफ की कठिनाइयो में से गीता ने फल त्याग-पूर्वक कर्म-योग की युक्ति खोज निकाली है। चाहिए तो इसे "मुरारेस् तृतीय पन्था" कहिए। परन्तु रेखा-गणित के प्रमेयो से जैसे उपप्रमेय निकलता है ठीक उसी तरह बिलकुल तर्क-शुद्ध रीति से आत्मा के अकर्त्तापन म मे फल-त्याग का सिद्धात फलित होता है। तो इस कर्म-योग की दृष्टि से "या निशा सर्वभूतानाम्" इस श्लोक की ओर देख सकते है और इस तरह देखें तो फिर इस श्लोक का ऐसा अर्थ निकलता है—"दूसरे लोग फल के प्रति जागरूक रहते है और अपने कर्तव्य के प्रति सोते रहते है; किन्तु स्थितप्रज्ञ सिर्फ फल के प्रति सोता है और कर्तव्य के विषय मे जाग्रत रहता है।" यह इस श्लोक का दूसरा अभिप्रेत अर्थ है।

१३७. स्थितप्रज्ञ-लक्षणानुसार इस श्लोक का तीसरा अर्थ।

(३) स्थितप्रज्ञ के लक्षणानुसार इसका एक तीसरा भी अर्थ है। वस्तुत: तीनो अर्थ मूल मे समान व एक ही है; परन्तु भिन्न-भिन्न भूमिकाओ से भिन्न-

भिन्न अर्थ होते हैं। इन्द्रिय-निरोध को स्थितप्रज्ञ का लक्षण बताते हुए यह सिद्ध किया है कि भोगवाद में बुद्धि-नाश होता है और बुद्धि स्थिर होने के लिए संयम की आवश्यकता है। उसके अनुसार यहां स्थितप्रज्ञ भोगों के प्रति सोया हुआ और संयम के विषय में जागरूक, तो साधारण मनुष्य संयम के प्रति सोया हुआ व भोगों के विषय में जागृत—ऐसा अर्थ करना उचित है।

१३८. गीता के श्लोक में बताये तीनों अर्थ के संकेत।

इस तरह ये तीन अर्थ गीता के इस रूपक द्वारा सूचित किये गए हैं, ऐसा समझना चाहिए। जब यह देखने जाते हैं कि इस सूचना की कुछ ध्वनि या संकेत इस श्लोक में पाये जाते हैं या नहीं, तो 'पश्यन्' 'मुनि' और 'संयमी' ये तीन शब्द हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं। 'पश्यन्' शब्द से सांख्य-बुद्धिनिष्ठ आत्म-ज्ञानी, 'मुनि' शब्द से योगबुद्धि-निष्ठ, कर्मयोगी और 'संयमी' शब्द से उभय-बुद्धि-सम्पन्न स्थितप्रज्ञ, जिसका प्रसंग यहां चल रहा है, ऐसे अर्थ समझने में आते हैं और यह निष्कर्ष निकलता है कि ये तीन अर्थ विशेष रूप से यहां सुझाने थे। परन्तु इस रूपक का सामान्य अर्थ है तो यह कि स्थितप्रज्ञ व साधारण मनुष्यों की जीवन-दृष्टियां ही बिलकुल भिन्न होती हैं, अतएव इन तीन विशिष्ट अर्थों को ही न लेकर कुल मिलाकर सर्व-जीवन-व्यापी अर्थ भी लिया जा सकेगा और वही मैंने आरम्भ में लिया भी था। गहराई से देखें तो ऐसा ही दिखाई देगा कि ये तीन विशिष्ट अर्थ भी जीवन-व्यापी हैं।

चौदहवाँ व्याख्यान

[१]

१३९. खुलासे का दूसरा सांकेतिक श्लोक। ज्ञानी समुद्र की तरह सब काम पचा जाता है।

आपूर्यमाण अचल प्रतिष्ठं समुद्रमाप प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत् कामा य प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ।।

आज के श्लोक मे स्थित-प्रज्ञ का वर्णन एक और तरह से किया है। पहले हम श्लोक को समझ ले।—'आपूर्यमाण अचलप्रतिष्ठ समुद्र यद्वत् आप · प्रविशन्ति, तद्वत् सर्वे कामा यं प्रविशन्ति, स शान्ति आप्नोति' यह एक वाक्य है। 'न कामकामी' दूसरा वाक्य। "आपूर्यमाणम्" का अर्थ है सब तरफ से सतत भरता रहने वाला। इतना होकर भी जो अपनी मर्यादा नही छोडता, अपनी प्रतिष्ठा से चलित नही होता।"आपूर्यमाण अपि, अचल-प्रतिष्ठम्" ऐसा 'अपि' शब्द का अध्याहार करना है। "समुद्र जिस तरह चारो ओर से आनेवाला पानी अपने अन्दर समा लेता है फिर भी अपनी सीमा का उल्लघन नही करता, उसी तरह स्थितप्रज्ञ अनेक कामो के चारो ओर से उसके अन्दर प्रवेश करते रहते भी विचलित नही होता, इसलिए वह शान्ति-लाभ करता है। जो कामो के पीछे दौडता है उसे वे प्राप्त नही होते।" ऐसा इस श्लोक का अक्षरार्थ है। श्लोक है तो बडा छटादार, परन्तु समझने मे जरा कठिन है।

१४०. 'काम' शब्द के अर्थ की छानबीन ।

यहा पहले 'काम' शब्द के अर्थ का विचार करना चाहिए। 'काम' शब्द का प्रयोग स्थितप्रज्ञ के लक्षणो में एक जगह एकवचन में हुआ है और दूसरी जगहो पर वहुवचन में। "सगात् सजायते काम " यहा 'काम' शब्द एकवचन में आया है। इस काम का अर्थ है मूल विकार। इस मूल काम से अवान्तर कामनाए उत्पन्न होती है। इस एकवचनी काम के लिए हिन्दी मे दूसरा शब्द नही है। अत वह उसी शब्द से दर्शाया जायगा। वहुवचनी 'काम' शब्द विलकुल शुरू में 'प्रजहाति यदा कामान्" यहा और अन्त में "विहाय कामान् य सर्वान्" यहा एक ही तरह से आया है। इन दोनो स्थानो पर इसका अर्थ कामना लेना है। ये कामनाए मनोगत होने के कारण उनका त्याग शक्य है, इष्ट है। वह अवश्य करना चाहिए। यह कहा गया है कि स्थितप्रज्ञ वैसे उनका त्याग कर चुका है। इसके अलावा दूसरे प्रकार से वहुवचनी 'काम' शब्द इसी श्लोक में आया है। "कामा य प्रविशन्ति"। यहा काम शब्द का अर्थ मनोगत कामना नही। "काम्यन्ते इति कामा "। जिसके विषय में कामना की जाय सो काम, ऐसी व्युत्पत्ति लगाकर उसका अर्थ यहा होता है वाह्यविषय, उपभोग्य पदार्थ, विषयभोग। इस अर्थ में 'काम' शब्द उपनिषद् में भी आया है। "ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके" अर्थात् 'जो-जो विषय-भोग इस जगत में दुर्लभ है वे सब मै तुझे देता हू,ऐसा प्रलोभन यम ने नचिकेता को दिया है। इस वाक्य में काम शब्द का अर्थ 'वाह्य उपभोग-विषय' है। यही अर्थ प्रस्तुत वाक्यमें भी है। कुल मिलाकर मूल विकार 'काम,' मनोगत 'कामना' और तदाधारभूत वाह्य विषयो के 'भोग'—इस तरह काम शब्द के तीन मुख्य अर्थ है। वाह्य विषयो को कामना के आधारभूत कहने का कारण यह कि उनके आश्रय से मन में कामना जाग्रत होती है। ये विषय ही मन में कामना उत्पन्न होने के लिए कारण होते हो सो बात नही। वे कामना के निमित्त वनते हैं। अनेक जन्मो के पूर्व कर्म, अनेक नये व पुराने अनुभव और उनसे उत्पन्न सस्कार,ये हमारे मन की कामनाओ के मूल कारण है। इन्हीके वदौलत इन वाह्य पदार्थों को उपभोग्यत्व अथवा विषयत्व प्राप्त होता है।

१४१. स्थित-प्रज्ञ सब काम पचा लेता है, यह उसके ज्ञान का गौरव है।

समुद्र मे जिस प्रकार चारो ओर से पानी एक-सा आता रहता है उसी तरह विश्व के अनत विषय स्थितप्रज्ञ के समीप आते ही रहते हैं। आख के सामने आख के विषय, कान के सामने कान के विषय खडे रहते है, परन्तु समुद्र जिस तरह तमाम पानी को अपने स्वरूप में ग्रहण करके आत्मसात् कर लेता है,उसी तरह स्थितप्रज्ञ सारे विषय-भोगो को अपने स्वरूप में मिला लेता है। आखो को जो रूप दिखाई देगा, कानो मे जो शब्द पड जायगा और इसी तरह दूसरी इन्द्रियो को उनके जो-जो विषय प्राप्त होगे उन सबको वह आत्म-स्वरूप में लवलीन कर डालता है, मन पर उनका कुछ भी असर नही होने देता। अनुकूल व प्रतिकूल वेदना के रूप में बाह्य विषयो का असर मन पर होता रहता है। इसे मन का धर्म कहिए, विषय का कहिए या मन व विषय दोनो का मिलाकर कहिए, मुख्य बात यह कि इन विषयो को मिटाना सभव नही है। यदि हम यह तय करे कि हमा सयम के लिए तमाम बा ह्य विषय मिटा दिये जाय तो फिर सारे ससार का ही लय कर देना होगा,सो संभवनीय नही। उसकी जरूरत भी नही। बाहर के विषय इन्द्रियो के द्वारा प्रवेश करते रहते है तो भी स्थितप्रज्ञ के चित्त पर उनका प्रभाव नही पडता। उसकी स्थिति अडोल रहती है। इस तरह यहा स्थितप्रज्ञ पुरुष का वैभव बताया गया है। उसे बा ह्य विषयो का त्याग नही करना है, बल्कि हृदयस्थ कामनाओ को मिटा देना है और उन्हे तो वह छोड ही चुका है। उसे किसी भी विषय से दूर रहने की जरूरत नही। तमाम विषयो के बाजार में भी यदि उसे लाकर खडा कर दिया जाय तो भी वह अपनी स्थिति से डिगता नही। इसपर नीति-शास्त्र हमसे पूछेगा कि क्या उसका ग्राह्याग्राह्य-विवेक अथवा नीति-विचार नष्ट हो जाता है? तो उसका उत्तर यह है कि यह श्लोक इसलिए नही लिखा गया कि कौन-सा विषय ग्रहण करे व कौन-सा छोडें, इसका नीति-शास्त्र बतावें। इसमें तो ज्ञान की महिमा का बखान किया गया है। ज्ञानी पुरुष का गौरव गाया गया है।

[२]

१४२. ज्ञान के गौरव और ज्ञान के स्वरूप के बीच में उसका नीति-सूत्र है।

स्थितप्रज्ञ की अविचल स्थिति का वर्णन दो तरह से किया जा सकता है। एक ओर उसके समीप अत्यन्त परिशुद्ध कर्म भी असभव और दूसरी ओर निषिद्ध कर्म भी सभव, एक ओर सब शुभाशुभ कर्मों का सन्यास तो दूसरी ओर सब शुभाशुभ कर्मों का योग—ऐसी दोनो सिरे की अवस्थाए बताकर स्थितप्रज्ञ का वर्णन किया जा सकता है। एक ओर यह कहा जायगा कि ज्ञानी कुछ भी नही करता है। वह हाथ तक नही हिलाता, यहा तक कि अच्छे कर्म भी नही करता। तो इसके विपरीत यह भी कहा जा सकेगा कि वह त्रिभुवन को आग लगा सकता है। फिर भी इन दोनो कथनो मे विरोध न होगा। यही उसकी भूमिका की वहार है। विचारको के ऐसे परस्पर-विरुद्ध प्रतिपादन में यह वहार दिखाई देती है। उदाहरणार्थ, श्रीशकराचार्य प्रसिद्ध मुक्तिवादी अतएव सर्वकर्म-सन्यासवादी थे। उनका कहना था कि ज्ञानी से कर्म हो ही नही सकता; परन्तु वही अपने भाष्य में कहते है—'ज्ञानी समस्त कर्मों—निपिद्ध कर्मों—को भी करके अकर्त्ता रहता है।" "सर्वकर्माण्यपि, निषिद्धान्यपि, कुर्वाण।" यदि नीति-शास्त्र भाष्यकार से आग्रहपूर्वक प्रश्न करे कि क्या ज्ञानी सचमुच कोई निषिद्ध कर्म करेगा ? तो वे उत्तर देंगे कि यहा मैं नीति-अनीति की चर्चा नही कर रहा हू, ज्ञान का गौरव वता रहा हू। यदि यह पूछोगे कि ज्ञानी क्या करेगा तो मेरी दृष्टि से वह शुद्ध अथवा अच्छे कर्म भी नही करेगा। वह कुछ भी नही करता। कोई हिलना-डोलना तक नही, परन्तु इसपर भी नीतिशास्त्र उनसे कहेगा कि आप तो ठेठ दूसरे सिरे पर जा पहुचे। इसका उत्तर वे देंगे—"भैया, मैंने यह ज्ञानी का नीति-सूत्र नही वताया, उसके ज्ञान का स्वरूप वताया है।" अर्थात् एक ओर ज्ञान का गौरव वताया और दूसरी ओर ज्ञान का स्वरूप। स्थितप्रज्ञ के ज्ञान का स्वरूप यह कि वह कोई भी कर्म नही करता। उसके ज्ञान का गौरव यह है कि निषिद्ध कर्म भी

उसे बाधक नही होते। स्थितप्रज्ञ के ज्ञान के स्वरूप और ज्ञान के गौरव के बीच में स्थितप्रज्ञ का नीति-सूत्र रहता है।

१४३. बीच में अर्थात् कहां ? यह तत्कालीन समाज की भूमिका पर अवलम्बित रहेगा।

बीच मे अर्थात् कहा ? इसका निश्चित उत्तर देना अलबत्ता कठिन होगा। समाज जैसे-जैसे ऊची भूमिका पर चढता जायगा वैसे-वैसे समाज के ज्ञानी मनुष्यो के विचार भी ज्यादा गहरे जाते जायगे। कुल मिलाकर समाज का अनुभव जैसे-जैसे बढता जायगा वैसे-वैसे स्थितप्रज्ञ की प्रज्ञा भी अधिक स्पष्ट होती जायगी। अर्थात् अनासक्ति में, अक्षरश और व्यवहारत. कौन-कौन से कर्म समा सकेगे इसका मापदण्ड भी उत्तरोत्तर भिन्न होता जायगा। यदि पहले से आज समाज की अधिक प्रगति हुई होगी तो पहले के स्थितप्रज्ञो की अपेक्षा आज के स्थितप्रज्ञ अधिक प्रगत होगे। ऐसा कहना है तो बडे साहस का काम, परन्तु विचार के अन्त में दिखाई देगा कि वही यथार्थ है। स्थितप्रज्ञो को भी प्रगति की यह भाषा स्थूल अर्थ मे ही ग्रहण करनी चाहिए। अर्थात् वह व्यावहारिक है, आन्तरिक नही। सब स्थितप्रज्ञो की आन्तरिक कसौटी एक ही रहेगी। उनकी आत्मस्थिति कभी भग न होगी। सदा अविचलित रहेगी, यही वह कसौटी है। अब उनके कर्म करने का नीति-सूत्र इस ढग का होगा कि जिससे इस कसौटी मे कोई गडबड न हो। यह बात उन्हे खुद अपने ही अनुभव से मालूम होती जायगी। उसे सब लोगो के समझने लायक सुनिश्चित भाषा में हमेशा के लिए प्रकट करना असभव है।

१४४. ज्ञानी के नीति-सूत्रों के संबंध में ग्रान्थिक कल्पना अनर्थकारक।

अनुभव का आधार छोड़कर कल्पना से ही काम चला लेने से स्पष्टता होने के बजाय उलटा भ्रम पैदा होगा। इसका उदाहरण कितने ही भक्ति-मार्गो और कर्मयोगवादी लोगो के विवेचनो में मिलता है। भक्ति-मार्ग वाले तो यहा तक आगे बढ गये है कि उन्होने श्रीकृष्ण को व्यभिचारी

मान लिया। अलबत्ते यह उनकी श्रीकृष्ण पर मेहरबानी है जो उन्होने उन्हे 'अलिप्त' माना है । अब कहना हो तो भले ही कहिए कि उन्होने श्रीकृष्ण की अनासक्ति में उनका तथाकथित व्यभिचार भी समा गया मानकर अपने भक्ति-भाव की उत्कटता प्रकट की है। इसी तरह कुछ कर्मयोगवादी प्रतिपादन करते है कि 'सब भूतो में भगवद्भाव' रखनेवाला स्थितप्रज्ञ जबरदस्त हिंसात्मक लडाइया भी लड सकता है। इसमे भी उन्होने स्थितप्रज्ञ का नीति-सूत्र बताने की अपेक्षा अपनी कल्पना का वैभव ही प्रकट किया है। एक के लिए भागवत का आधार मिल गया तो दूसरे के लिए महाभारत का। बिना आधार के तो कोई कुछ कहता नही; परन्तु आधार होना चाहिए आज की समाज-स्थिति में इस क्षण के प्रत्यक्ष स्वानुभव का। इस अनुभव के बल पर जो-कुछ कहा जायगा वही यथार्थ समझा जायगा। परन्तु सो भी इसी काल के लिए। भविष्य-काल के लिए वह बन्धनकारक नही हो सकता, परन्तु यदि स्थितप्रज्ञ का जैसा आन्तरिक लक्षण हमने तीनो काल के लिए ढूढ निकाला है वैसा ही यदि त्रैकालिक नीतिसूत्र बताना हो तो "या निशा सर्वभूतानाम्" इस श्लोक के अनुसार बताना होगा। अर्थात विवेक उसका नीति-सूत्र होगा।

[३]

१४५. इस श्लोक को देखने की दूसरी दृष्टि। स्थितप्रज्ञ भावावस्था में सब सुख देखता है।

इस श्लोक के अर्थ के विषय में कुछ लोगो को तो भीति मालूम होती है और कुछ को विशेष प्रीति। नीति-निष्ठो को यह भीति मालूम होती है कि इस श्लोक में एक विचित्र नीति-सूत्र बताया गया है जिसके अनुसार यदि स्थितप्रज्ञ चलने लगे तो नीति ही उड जायगी। दूसरी ओर कितने ही लोगो को उससे इसलिए प्रीति होती है कि एक बार स्थितप्रज्ञ हो जाने से फिर समुद्र की तरह हर बात को अपने में समा सकेगे, आचार-व्यवहार में कोई रोक-टोक न

रहेगी। पर सच पूछिए तो यहा न भीति के लिए कोई गुजाइश है और न प्रीति के लिए; क्योकि हम अभी देख चुके है कि स्थितप्रज्ञ मे सब विषय-भोगो के प्रविष्ट होते हुए भी वह तटस्थ रहता है--इस कथन के द्वारा स्थितप्रज्ञ के लिए कोई नीति-सूत्र नही, बल्कि उसकी आत्मस्थिति का गौरव बताया गया है; परन्तु उसकी अपेक्षा भी भिन्न दृष्टि से इस श्लोक की ओर देखा जा सकता है। यह तो सत्य ही है कि इसमे स्थितप्रज्ञ का नीति-सूत्र नही, बल्कि गौरव बताया गया है, परन्तु इसकी अपेक्षा भी उसमे मुख्यत उसकी भाव-दृष्टि बताई गई है। स्थितप्रज्ञ तो एक ही, परन्तु उसकी भूमिकाए अलग-अलग होती हैं। एक उसकी कर्मयोग की भूमिका, दूसरी ध्यान-भूमिका। कर्मयोग वाली भूमिका का आचार-सूत्र "या निशा सर्व-भूतानाम्" इस श्लोक मे बताया गया है। इसमें उसकी जाग्रत विवेक-शक्ति का वर्णन है। उसे सत् व असत् का निरन्तर भान रहता है व सत् को ग्रहण करके असत् का निराकरण करना,यह उसके कर्मयोग-काल की भूमिका होती है। परन्तु समुद्र की उपमा वाले इस श्लोक मे उसका ध्यान-योग की भूमिका का भाव बताया गया है। यहा उसकी भावना की व्यापकता व भव्यता का दर्शन है। उसकी विशाल व उदार दृष्टि के विस्तार में सारा विश्व समा जाता है। उसकी दृष्टि मे सभी शुभ, सभी पावन, सभी मगल दिखाई देता है।

१४६. शुभ+अशुभ=शुभ; क्योंकि अशुभ=०

वस्तुत ससार में अशुभ का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व ही नही है। अशुभ शुभ के सहारे से आता है। अशुभ शुभ की छाया है। छाया से वस्तु का वस्तुत्व नही मिटता। उसमें कोई फर्क भी नही आता। उलटा वस्तु स्पष्ट दीखती है। सफेद कागज पर यदि बिना रग के चित्र बनाने लगें तो वह बन ही नही सकेगा। कागज कोरा-का-कोरा रह जायगा। केवल शुभ अव्यक्त ही रहेगा। वह साकार नही होगा। ईश्वरी योजना मे शुभ को स्पष्ट दिखाने के लोभ से अशुभ का प्रादुर्भाव हुआ। मनुष्य की छाया का कुछ

मूल्य नही। इस जेल मे ५० कैदी है। उनकी पचास, सौ या डेढ सौ छायाए पड सकेंगी, परन्तु इसलिए कोई कैदियो की 'गिनती' करते समय सौ, डेढ सौ या दो सौ नही गिनता, क्योंकि छाया की कोई सत्ता नही। अर्थात् वह अभाव-रूप ही है। अन्धकार का वर्णन करते समय हम उसे प्रकाश का अभाव कहते है। प्रकाश को अन्धकार का अभाव नही कहते। अन्धकार कोई वस्तु नही है। प्रकाश वस्तु है। प्रकाश को दिखाने के लिए अन्धकार काम आया। शुभ का रूप दिखाना बस इतना ही अशुभ का कार्य है। अत स्थितप्रज्ञ उससे नही डरता। उससे उसकी वृत्ति का मागल्य नही बिगडता, बल्कि अशुभ का शुभ पर उपकार ही हुआ, उसने शुभ को प्रकट किया, उसमें उठाव—स्पष्टता ला दी, इसी दृष्टि से वह उसे देखता है। उसकी सर्व-सग्राहक भावना को सारा शुभ-अशुभ विश्व स्वीकार्य ही लगता है या यो कहे कि उसकी दृष्टि को शुभ-अशुभ मिलाकर शुभ ही दीखता है। गणित की भाषा मे उसका दर्शन इस तरह कराया जा सकता है—शुभ+अशुभ=शुभ, क्योंकि अशुभ=० तो फिर इस शून्य की आवश्यकता ही क्या है? यह चाहिए किसलिए? इसलिए कि उसकी बदौलत सारा गणित-शास्त्र बन पाया। शून्य की चाहे कुछ भी कीमत न हो तो भी एक पर शून्य रखने से दस हो जाते है। उसकी सन्निधि में एक की प्रभा फैल जाती है। इस तरह शुभ की शोभा को खिलाकर मानो अशुभ भी सुशोभित हो गया है।

१४७. अशुभ मिथ्या, साधना मिथ्या, अशुभ का मरण मिथ्या। केवल एक शुभ सत्य। यह है भावावस्था।

यह मानकर कि यह तत्त्वज्ञान तो बडा सुविधाजनक है, अशुभ के लोभ से जो शुभाशुभ-मिश्रण को स्वीकार कर लेगे वे मानो अपनी आत्महत्या ही करेंगे। अशुभ-मिश्रित शुभ भी अशुभ ही है। विष-मिला अन्न भी विष ही है। अत जो यह कहता है कि नीति-शास्त्र शुभाशुभ के मिश्रण पर खडा करना चाहिए, मानो उसने आत्मनाश की ही तैयारी कर ली। स्थितप्रज्ञ

की दृष्टि ऐसी नही। वह अशुभ को शुभ के रूप मे ग्रहण नही करता। अशुभ का मोह उसे नही। यह हमने देख ही लिया है कि अपनी कृतियो में वह शुभाशुभ-विवेक को कभी नही छोडता; परन्तु उसकी कृति व दृष्टि में अन्तर होता है। उसकी जगद्विपयक दृष्टि ऐसी रहती है कि उसे जगत् में अशुभ का दर्शन ही नही होता। अच्छो के साथ बुरो को भी वह कहता है—"तुम सब आओ। सब मेरे ही तो हो।" यदि वे कहे कि "हम तो अशुभ हैं" तो वह उन्हे कहेगा—"तुम अपने को अशुभ कहते हो, पर वस्तुत तुम अशुभ नही। कहो कि हम अशुभ नही हैं।" फिर भी जिनका यही आग्रह है कि 'हम तो अशुभ हैं' उन्हे वह पावन कर लेता है। उसकी पावन दृष्टि से अशुभ को शुभत्व प्राप्त हो जाता है। अशुभ एक भ्रम है। भूत या हौवे की तरह अशुभ की स्थिति है। शिक्षक लडके से कहते है—न कही भूत है, न हौवा; परन्तु लडके की समझ मे नही आता। घर आकर वह मा से कहता है—देख, वह हौवा दीखता है न, नही कैसे ? तब मा कहती है, अच्छा, ले, मै उसे मत्र से मारकर भगा देती हू। लडका समझता है कि मा ने हौवे को मार डाला। उसको तसल्ली हो जाती है। ज्ञानी कहता है, तुम सब शुभ हो, शुद्ध हो। तुममे कोई दोष नही, बिगाड नही, तुम्हे कुछ नही हुआ। तब भी जो कहते है कि हम तो खराब है, तो उन्हे वह कहता है—अच्छा, मै तुम्हे मत्र बताता हू, साधना बताता हू; परन्तु वह केवल हौवे को मार डालने भर के लिए। अशुभ मिथ्या, साधना मिथ्या, अशुभ का मरण भी मिथ्या, केवल एक शुभमात्र सत्य। जिसकी दृष्टि ही ऐसी बन गई कि ससार में शुभ के सिवा कुछ भी नही, उसे शान्ति प्राप्त होती है—यह क्या शब्द द्वारा बताने की जरूरत है ?

पन्द्रहवां व्याख्यान

[१]

१४८. स्थितप्रज्ञ-लक्षणो का उपसंहार । स्थितप्रज्ञ को कोई कामना नहीं, जिजीविषा नही ।

विहाय कामान् य सर्वान् पुमाञ्चरति नि स्पृह ।
निर्ममो निरहकार स शान्तिमधिगच्छति ॥

अर्थ—'सब कामना छोडकर जो पुरुष नि स्पृह होकर विचरता है, जिसकी अहता व ममता चली गई है, वह शान्ति-रूप ही हो गया ।' यह स्थितप्रज्ञ-प्रकरण का उपसहार-वाक्य है। स्थितप्रज्ञ के लक्षणो की शु आत कामना-त्याग से की गई है । यहा उसका उपसहार भी कामना-त्याग से ही किया है । 'सब कामना छोडकर जो नि स्पृह हो जाता है उसे शान्ति मिलती है, यह अन्तिम वाक्य है । स्पृहा का अर्थ है वासना किंवा कामना । सो तो छोड ही चुके है । तो फिर अब और निस्पृह कहने से क्या मतलब ? जब सब कामनाए छोड दी तो फिर स्पृहा भी छोड दी । तब 'नि स्पृह' शब्द क्यो लाया गया ? "जिसने सब कामनाए छोड दी है और फिर स्पृहा भी छोड दी है" ऐसा कहने में पुनरुक्ति नही है। 'स्पृहा' के द्वारा यहा मूल 'अभिलाषा' अर्थात् जीने की अभिलाषा व्यक्त की गई है । उसका विशेष उल्लेख ब्राह्मण-परिव्राजक-न्याय से किया गया है। यजमान ने ब्राह्मणो को निमन्त्रण दिया । भोजन के समय पूछा, "सब ब्राह्मण आ गये न ?" जवाब मिला—"हा, सब आ गये ।" फिर पूछा—"वे सन्यासी भी ?" जवाब—"हा, वे भी

आ गये ।" ब्राह्मणो मे सन्यासी आ ही गये; परन्तु सन्यासियो का विशेष महत्त्व होने से स्वतन्त्र रूपसे पृच्छा की। इसे ब्राह्मण-परिव्राजक-न्याय कहते है। इस न्याय से यह शब्द यहा आया है। यह कहते ही कि उसकी सब कामनाए छूट गई, पूछा—"सब कामनाए छूट गई है तो जीवन-विषयक कामना भी छूट गई न ?" उत्तर मिला—"हा।" विशेष रूप से उल्लेख करने का कारण यह कि अवान्तर सब कामनाए छोड देने पर भी जीने की वासना कायम रह सकती है। अतएव बताया कि 'वह उसे भी छोड चुका होता है।'

१४९. मुमूर्षा भी नहीं, मरण की भीति भी नहीं।

जीने की इच्छा छोडता है, इसका अर्थ क्या यह है कि मरने की इच्छा रखता है ? नही, जीने की इच्छा के साथ ही मरने की इच्छा भी छोड देता है। तो कहते है—क्या मरने की भी इच्छा किसीको होती है ? इसका उत्तर यह है कि कभी-कभी होती है। हम मनुष्यो को आत्म-हत्या करते देखते है। स्थितप्रज्ञ जीवन से ऊबा हुआ नही होता। जीने की इच्छा के साथ ही वह मरने की अभिलाषा भी छोड देता है; पर इसका अर्थ यह नही कि सारे जीवन ही के प्रति उसके मन मे उदासीनता आ जाती है। बाज-बाज बूढे आदमी कहते है—"अब हमे कै दिन जीना है ? दस गये, पाच रहे।" उनको जीवन मे रस नही रह जाता। अत वे उदासीन हो जाते है ; परन्तु स्थितप्रज्ञ की स्थिति इसके विपरीत होती है। जीवन की अभिलाषा चली जाने से उसका मृत्यु का भय मिट जाता है। तब फिर जीवन में बस आनन्द व खेल बाकी रहता है। उसका जीवन लीलामय हो रहता है। आगे गीता में भक्तो के लक्षण बताते हुए दसवे अध्याय मे कहा है "तुष्यन्ति च रमन्ति च"। तब वे सन्तुष्ट होकर क्रीडा करते रहते है। तुकाराम कहते है—

तुका म्हणे मुक्ति परिणिली नोवरी।
आता दीस चारी खेली-मेली ॥

अर्थात्—मुक्ति-रूपी वधू से विवाह हो गया है। अब चारो ओर

आनन्द-ही-आनन्द—खेल-कूद ही हो रहा है।" ऐसा उनका जीवन आनन्दमय होता है।

१५०. जीवन की अभिलाषा ही वास्तविक मरण की भीति। उसके जाते ही जीवन आनन्दमय हो जाता है।

जीवन की अभिलाषा ही वास्तविक मरण की भीति है। एक ही वस्तु के ये दो पहलू हैं। लडाई पर जानेवाले सैनिक सदा हसने-खेलने व खेल-तमाशे में मस्त रहते हैं। पास्कल कहता है—"इसका कारण यह है कि मरण उनको आखो के सामने प्रतिक्षण मौजूद रहता है। उसे भूलने के लिए वे आनन्द का यह आभास खडा करते हैं।" मन में जीवनाभिलाषा का, दूसरे शब्दो में, मरण-भय का काटा चुभता रहता है। उसका दु ख भूलने के लिए हस-खेलकर उन्मादावस्था लाने का प्रयत्न करते हैं। यो भी जीवन में ऐसा अनुभव आता है। खूब हसने-खेलने वाले लोग हम अक्सर देखते हैं। जब हम उनके निकट परिचय में आते हैं तो मालूम होता है कि उनमें कितने ही भीतर से दु खी होते हैं। दु ख के उस शूल को भूलने के लिए वे जान-बूझकर हास्य-विनोद का वातावरण खडा करना चाहते हैं। मन की ग्लानि को ढापने के लिए यह सारा उद्योग होता है। मनुष्य के मन को जो सबसे ज्यादा चुभता है वह है जीवनाभिलाषारूपी शूल। मरने तक यह चुभता ही रहता है और मरने के बाद भी पीछा नही छोडता। अतएव उसका दु ख भूलने के लिए वह भिन्न-भिन्न उत्सव व समारोह के रूप में कृत्रिम वातावरण खडा करने की कोशिश करता है, परन्तु जिसने जीने की वासना ही छोड दी है, उसके सारे दु ख अपने आप मिट जाते हैं। जीवन का काटा ही चला गया न। तब सारी चिन्ता मिट गई। जीवन शुद्ध आनन्दमय हो गया।

१५१. 'चरति' पद के द्वारा यही सूचित किया है।

छोटे बच्चो के जीवन में जो इतना आनन्द दिखाई देता है उसका रहस्य भी यही है। उनको जीने की फिक्र नही रहती है। अलबत्ते इसके मूल में उनका अज्ञान होता है, पर यह बात पक्की है कि उन्हे किसी बात की फिक्र

नही होती। वच्चा खेलने में मग्न रहता है। उसे खाने-पीने का भी भान नही रहता। उसकी भूख-प्यास मा को लगती है। इन सब-से उसका कोई सरोकार ही नहीं। छोटे बच्चे की इस अज्ञानमूलक दशा की तरह स्थितप्रज्ञ की ज्ञानमूलक दशा होती है। वही यहा वताई गई है। 'चरति' शब्द का मर्म यही है। 'चरति' याने खेलता है, कूदता है, बिचरता है। उसके जीवन मे दु ख जैसी कोई चीज ही नही रहती। प्रतिज्ञा का पुनरुच्चार निगमन में किया जाता है। 'प्रजहाति यदा कामान्' इत्यादि श्लोको में की हुई प्रतिज्ञा का स्वरूप इकहरा नही है। मूल प्रतिज्ञा मे इतना ही नही कहा है कि सब कामनाए छोड देता है। उसके साथ ही उसका दूसरा लक्षण भी वताया गया है—आत्मा मे ही सतुष्ट रहता है। प्रतिज्ञा का यह उभयविध अर्थ निगमन में भी आना चाहिए। सारी कामनाए छोड़ने के बाद वह अपनी आत्मा के आनन्दरूपी स्रोत मे मग्न हो जाता है। यह भाव यहा 'चरति' शब्द के द्वारा प्रदर्शित किया गया है। वाहर की वासनाए चली जाने से अव भीतर का केवल विशुद्ध आनन्द बाकी रह गया।

१५२. 'चरति' का अर्थ 'विषयान् चरति' नहीं।

'चरति' शब्द का इससे एक जुदा अर्थ बताया गया है। तिलक महा-राज ने 'गीता-रहस्य' में उसका विवरण किया है। पहले एक श्लोक में 'विषयान् चरन्' ऐसे पद आये है। वे कहते है कि 'चरति' शब्द का यहा वही अर्थ करना चाहिए। उनके अनुसार 'चरति' का अर्थ है सयमपूर्वक इद्रियो का युक्त व्यापार करना। यह अर्थ भी अनुचित नही है; क्योकि यह बात नही कि स्थित-प्रज्ञ इद्रियो से कुछ काम ही नही लेगा। आखो से देखना, कानो से सुनना उसके लिए मना नही है। सेवा के लिए वह ये सब काम करेगा, परन्तु ऐसा अर्थ करने की यहा आवश्यकता नही है; क्योकि इस श्लोक में स्थित-प्रज्ञ की पूर्ण व्याख्या का निगमन है। अत "विषयान् चरन्" जैसा अर्थ यहा अपेक्षित नही है। फिर 'चरन्' वहा सकर्मक है, यहा 'चरति' अकर्मक है। और बिना कारण कर्म के अध्याहार की कल्पना करना उचित नही है।

१५३. 'चरति' का अर्थ आश्रम-संन्यास नहीं ।

दूसरा भी एक अर्थ स्मृति-वचनो के अनुसार किया जाता है। स्मृति का यह विधान है कि सन्यासी पुरुष सर्वसग परित्याग करके सदा विचरता रहे। उसका स्मरण 'चरति' शब्द से होता है, परन्तु स्थित-प्रज्ञ के लिए कोई भी विधान करने की गीता की प्रवृत्ति नही, क्योकि अब उसकी ऐसी स्थिति ही नही रह जाती कि उसके लिए कोई विधान किया जाय। स्मृति वाला विधान तो आश्रम-सन्यास से सम्बन्ध रखता है, वह साधकावस्था को ध्यान मे लेकर ही किया है। वह विधान इस प्रकार है—अनेक प्रकार का अनुभव प्राप्त कर चुके हुए साधक को अनासक्त रहना चाहिए, वह एक जगह रहकर आसक्ति मे न पडे, सतत फिरता रहे, इससे परिग्रह नही जमा हो पावेगा, परन्तु स्थितप्रज्ञ के लिए ऐसा विधान कौन बनावेगा? उसे ऐसे विधान की जरूरत भी क्या है? वह अपना विधान खुद ही जानता है। यदि यह माने कि यह विधान नही वर्णन है, तो ज्ञानी पुरुष का स्थूल-चरित्र वर्णन करने की प्रवृत्ति गीता मे कही नही पाई जाती। ऐसे स्थूल चरित्र की कल्पना भी गीता ने नही की है। तो भी यदि 'चरति' शब्द से सन्यासाश्रम-सम्बन्धी स्मृति-वचन का स्मरण होता है, ऐसा कोई कहे और चिह्न के तौर पर उसका उपयोग करे तो हमे आपत्ति नही है। परन्तु उसका ऐसा शाब्दिक अर्थ अलबत्ते हम यहा हरगिज नही होने देंगे।

१५४. 'चरति' याने विहार करता है। ज्ञानदेव की भाषा में।

"विचरे विश्व होकर। विश्वमध्य।" यहा की तरह आगे भक्त के लक्षणो मे "अनिकेत स्थिरमति" ऐसा एक लक्षण बताया गया है। उसका भी अक्षरार्थ ऐसा हो सकता है—'उसका कही भी घर नही होना।' अर्थात वह 'सतत फिरता रहता है।' परन्तु इस अर्थ को पचाकर ज्ञानदेव ने उसमे से नवीन व सरस निचोड निकाला है—

"वायुसि एके ठाई। विढार जैसे नाही।
तैसा न धरी च कही। आश्रयो जो ॥
हे विश्व चि माझे घर। ऐसी मति जयाची स्थिर।
किवहुना चराचर। आपण जाला ॥"

अर्थात्—"जैसे वायु का कही एक जगह डेरा नही होता वैसे जो कही भी आश्रय लेकर नही रहता, जिसकी यह मति स्थिर हो गई कि सारा विश्व ही मेरा घर है, बल्कि जो खुद ही चराचर-रूप हो गया।" सारा विश्व ही उसका घर हो गया। वह बे-घर का नही रहा। ऐसी ही विचारशीलता ज्ञानदेव ने इस जगह भी अर्थ करने मे दिखाई है। 'चरति' शब्द का अर्थ यहा उन्होने किया है 'विचरे विश्व होकर, विश्व-मध्य।' अक्षरार्थ भी न छटने पावे और उसका बोझ भी न पडने पावे—ऐसी कुशलता से भाष्य करने की कला ज्ञानदेव ने यहा दिखाई है। सस्कृत में ज्ञानी पुरुष के सचार के लिए 'विहार' शब्द है। हमारे देश मे भी पूर्व मे एक विहार यानी बिहार-प्रान्त है। किसी ज्ञानी पुरुष के विहार के स्मारक के रूप मे एक सारे प्रान्त का ही नाम बिहार रख देने का ऐसा उदाहरण बहुत कम मिलता है। बुद्ध के विहार की स्मृति के रूप मे हमारे धर्म-प्राण पूर्वजो ने इस प्रान्त का नाम 'बिहार' रख दिया। 'बिहार' का अर्थ है सहज आनन्द से सैर करना, क्रीडा करना, खेलना, बिचरना। यही अर्थ यहा 'चरति' शब्द के द्वारा अभिप्रेत है। समस्त कामनाओ का व जीवनस्पृहा का भी निरास हो जाने के बाद जीवन एक विहार अथवा क्रीडा ही बन जाता है।

१५५. कामना और जीवनाभिलाषा छूटने पर अब शरीर बाकी रहा सो केवल उपकारार्थ। 'निर्ममो निरहंकारः' पद से यही भाव सूचित किया है।

परन्तु तब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जिसकी जीवनाभिलाषा ही बाकी नही रही और महज शरीर बच रहा तो उसके लिए अब काम

क्या रहा ? तत्त्व-ज्ञान में यह प्रश्न हमेशा खडा होता है, क्योकि यह सिद्धात है कि बिना कार्य के कोई भी वस्तु नही रह सकती। उसका उत्तर तुकाराम ने दिया है—"तुका कहे देह। बचा उपकार-अर्थ।" स्थित-प्रज्ञ तो विश्वमय हो जाता है, 'मै व मेरा' यह भाषा ही वहा नही रहती। वह लोगो से कहता है—"अब न मै हू। न मेरा है, जो कुछ है सो तुम व तुम्हारा है। तुम अपना सभालो," यही अर्थ अगले चरण में समाविष्ट है। 'निर्ममो निरहकार।' वह सब भूतों पर उपकार करने के लिए ही जीवित रहता है, परन्तु उसके शरीर के लिए सामाजिक कार्य हो तो भी उसे खुद कोई सामाजिक कामना नही होती। इसका यह अर्थ न समझ लेना चाहिए कि उसकी व्यक्तिगत कामना मिटकर सामाजिक कामना बाकी रहती है। 'सर्व कामना' में सामाजिक कामनाए भी आ गई। उन्हे भी वह छोड देता है। तो फिर वह सामाजिक कार्य कैसे करता है ? वह उसके साधक अवस्था और सामाजिक आवश्यकता के प्रवाह से उसके द्वारा होता है। साधकावस्था की प्रेरणाए उसके स्वभाव में घुल-मिलकर उसके अग-रूप बन जाती है व दूसरी तरफ समाज की आवश्यकता का प्रवाह तो सतत बहता ही रहता है। ये उससे काम करवा लेते है। इस तरह वह महज प्रवाह-पतित होता है। जिसकी ऐसी स्थिति हो उसे शान्ति प्राप्त हो तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नही है। शान्ति पर अधिकार उसीका है, क्योकि अशान्ति के सब कारण उसके जीवन से चले गये है। अहन्त-ममता गई, शुभाशुभ कामना गई, जीवन-स्पृहा गई, अब अशान्ति किस बात से रहे ? अब तो शान्ति-ही-शान्ति बाकी रह गई।

[३]

१५६. पूर्वोक्त भावावस्था और क्रियावस्था से भिन्न स्थित-प्रज्ञ की यह ज्ञानावस्था बिलकुल अवर्णनीय।

पिछले श्लोक में स्थितप्रज्ञ की भावावस्था का वर्णन किया गया।

यहा ज्ञानावस्था बताई गई है। वह मानो उस भावावस्था के वर्णन के बिलकुल विपरीत दिखाई देती है। वहा शुभाशुभ सब कामनाओ का प्रवेश है, यहा दोनो के लिए दरवाजा बन्द है। ज्ञानावस्था मे स्थितप्रज्ञ शुभ-अशुभ दोनो के उस पार चला जाता है। वहा कोई द्वद्व बाकी नही रहता। वहा न सृष्टि है, न दृष्टि। न ब्रह्माड है, न पिंड। न यह है, न वह। न नाम, न रूप। न गुण, न कर्म। न जाति, न व्यक्ति। न सामान्य, न विशेष। न इद्रिया, न मन। न बुद्धि, न अहकार। तो फिर है क्या ? यह कहने का साधन नही; क्योकि वहाँ वाणी ही खतम हो जाती है। जहा वाणी शेष रहती है वहा वह अवस्था नही। यह कहे कि वहा स्वानुभूति है तो यह भी गलत साबित होगा। उसे शून्य भी नही कह सकते। अशून्य भी वह नही; परन्तु इतना अलबत्ते निश्चित है कि कुछ है सही। वहा भावावस्था का भाव खतम हो जाता है। क्रियावस्था की क्रिया लुप्त हो जाती है। इससे अधिक उस अवस्था का वर्णन करना गैरजरूरी है, क्योकि इतने वर्णन से भी उसपर कोई प्रकाश नही पडा।

१५७. भावावस्था में समग्रता है।

परन्तु भावावस्था मे स्थितप्रज्ञ की भूमिका सम्पूर्ण विश्वरूप भगवान् को मान्य करने की होती है। उस समय उसकी भावना मे समग्रता होती है। वहा विश्लेषण नही। किसी सुन्दर मूर्ति की नाक काट कर कोई ले आवे और पूछने लगे कि यह सुन्दर है ? तो मै कहूगा कि सारी मूर्ति सुन्दर थी। उसके टुकडे कर देने से टुकडो मे सुन्दरता न रहेगी, समग्रता में सुन्दरता है। यह सारा विश्व शुभ व अशुभ मिलाकर मगलरूप है। विश्वरूप में ।मलकर लीन होने की, विश्वरूप का आदर करने की, पूजने की, उसे सारे-का-सारा लील जाने की यह भूमिका है। "पूजके देव देखो।" मूर्ति की पूजा करके फिर उसे देखोगे तो वह सुन्दर दिखाई देगी। "बीज बो खेत देखो।" बिना बोये खेत पर जाओगे तो वहा घास-ही-घास दिखाई देगी। अपनी पवित्र भावना का ओढना उढाकर फिर ससार की ओर देखो तो वह

परम पवित्र दिखाई देगा। मा अपने बच्चे को प्रेम से सजाती है, गहने-कपडे पहनाती है। अत वह उसको सुन्दर दिखाई देता है। इस तरह आत्म-भावना से विश्व को सजाओ, चमकाओ, मडित करो, आच्छादित करो और फिर देखो। आत्मीयता के कारण वह सुन्दर व प्रिय दिखाई देगा।

१५८. क्रियावस्था में विवेक है।

इन दोनो से जुदा विवेक-प्रधान क्रियावस्था "या निशा सर्व भूतानाम्" श्लोक मे बताई गई है, सो हमने देख ही ली है। वहा शुभ बनाम अशुभ है। निष्कामता बनाम सकामता, अकर्तृत्व बनाम कर्तृत्व, सयम बनाम स्वच्छदता सत् बनाम असत्, प्रकाश बनाम अन्धकार, ऐसा वहा झगडा है।

१५९. तीनो अवस्थाएं मिलाकर स्थित-प्रज्ञ की एक ही अखण्ड वृत्ति।

ज्ञानी पुरुष को शरीर की अपेक्षा से भिन्न-भिन्न समयो में ये तीन अवस्थाए प्राप्त होती हैं। उसकी वृत्ति की अखडता को बाधा पहुचाये बिना ये आती है और जाती है। सच पूछिये तो यह भाषा ही ठीक नही है कि उसे 'वृत्ति' शेष रहती है। उसे सचमुच कोई 'वृत्ति' शेष नही रहती।

"करणें का न करणें। हें आवबे तो चि जाण ॥
विश्व चलतसे जेणें। परमात्मेनि ॥"

अर्थात्—"जिस परमात्मा से यह जग सचालित होता है वही अकेला जानता है कि क्या करें व क्या न करें।" ऐसी उसकी स्थिति होती है। भगवान् को उससे जो काम कराना मजूर होता है, समाज को जैसी आवश्यकता होती है वैसा काम उससे हो जाता है। वह स्वय प्रवृत्ति से कुछ भी नही करता। पानी उधर जाता है जिधर माली उसे ले जाता है। यदि गन्ने की तरफ ले गया तो वह उसकी मिठास बढा देता है, राई की तरफ ले गया तो उसकी तेजी बढा देगा। प्याज की क्यारी में ले गया तो उसकी गध बढा देगा। इस तरह पानी खुद अपना कोई अभिमान नही रखता। स्थितप्रज्ञ ऐसा आग्रह नही रखता कि अमुक करूगा, अमुक नही करूगा,

अथवा कुछ-न-कुछ तो करूंगा ही या कुछ भी नही करूगा। ईश्वर को उससे जो-कुछ कराना मंजूर होगा वह करा लेगा। उसे खुद कोई प्रवृत्ति बाकी नही रही। अत उसकी स्थिति के लिए निवृत्ति शब्द ही ठीक है; परन्तु यदि 'वृत्ति' शब्द का ही आग्रह हो तो उसे 'अखड वृत्ति' कहिए। शरीर की दृष्टि से क्रियावस्था, भावावस्था व ज्ञानावस्था उसे प्राप्त होती है, परन्तु न तीनो भूमिकाओ मे विरोध नही है। इस कारण उसकी अखड वृत्ति में अन्तर् नही आता। क्रिया के समय वह सज्जन व दुर्जन का विवेक रखेगा। भावावस्था मे सबका सग्रह करेगा। ज्ञानावस्था में कहेगा—मेरा कोई नही। इस तरह तीन स्वाग उसके होते है। इन तीन भूमिकाओ को मैं स्थितप्रज्ञ की त्रिसूत्री कहता हूं। इस त्रिसूत्री का आधारभूत जो महान् प्रमेय है उसकी चर्चा आगे करेगे।

सोलहवां व्याख्यान

[१]

१६०. स्थितप्रज्ञ की तिहेरी अवस्था के मूल में ईश्वर का त्रिविध स्वरूप ।

स्थितप्रज्ञ की जो अवस्था हमने देखी वह स्थूल अर्थ में ईश्वर की ही समझना चाहिए। उसकी जो तिहेरी अवस्था होती है उसका कारण भी यही है कि ईश्वर का स्वरूप त्रिविध है। स्थितप्रज्ञ की भूमिका की वही आधारभूत नीव है। ईश्वर को किसीने देखा नही। और ऐसे ही कहे तो मनुष्य को भी किसीने नही देखा । मनुष्य का वाह्य रूप प्रकट है। वैसे ही ईश्वर का भी वाह्य रूप प्रकट है। मनुष्य का अन्त स्वरूप ईश्वर के अन्त स्वरूप की तरह ही अप्रकट है। मनुष्य का प्रकट रूप छोटा-सा है। इसलिए वह मालूम होता-सा भासित होता है, किंतु ईश्वर का तो प्रकट रूप यह अपरम्पार सृष्टि ही है। अत वह मालूम न होता-सा प्रतीत होता है। सच पूछिये तो मनुष्य व ईश्वर दोनो एक ही-से प्रकट व अप्रकट है, परन्तु जैसे मनुष्य को जानने का साधन है वैसे ही ईश्वर को भी जानने का साधन हमें उपलब्ध है। वह साधन है स्थितप्रज्ञ। जबतक ऐसे स्थितप्रज्ञ सब जगह—सब समय मिलते है तबतक यह कहना अनुचित न होगा कि ईश्वर को जानने का साधन हमारे पास है । अत स्थितप्रज्ञ को मूर्तिमान् और एक छोटा-सा ईश्वर ही समझिये न। स्थितप्रज्ञ की तीन भूमिकाए ईश्वर के तीन स्वरूपो के अनुसार हुई है। इन तीन रूपो

को मिलाकर उसका परिपूर्ण स्वरूप बनता है। जितना कुछ हमारी कल्पना में आता है और नही आ सकता वह सब उसके उदर में समा जाता है।

१६१. ईश्वर का पहला रूप केवल शुभ।

ईश्वर का पहला रूप केवल शुभ है। वह मनुष्य की आकाक्षा में दिखाई देता है। मनुष्य सदा शुभ की आकाक्षा रखता है। जो अशुभ करता है वह भी आकाक्षी तो शुभ का ही होता है। असत्यवादी भी नही चाहता कि कोई उसे धोखा दे। हिंसक मनुष्य भी नही चाहता कि कोई उसे मार डाले। मनुष्य-हृदय की इस शुभ-विषयक आकाक्षा से ही नीति-शास्त्र का जन्म हुआ है; हो सकता है कि शुभ क्या है इसका निर्णय कभी-कभी कठिन मालूम हो, परन्तु शुभ जैसी वस्तु है अवश्य और वही मनुष्य को प्रिय है। दैवी सम्पत्ति-सम्बन्धी सद्गुण बताकर भगवान ने जो अर्जुन से कहा है कि 'तेरा जन्म दैवी सम्पत्ति ही में हुआ है' सो यह आश्वासन महज अर्जुन को ही नही, वल्कि सारी मनुष्य-जाति को दिया हुआ समझना चाहिए। यह सच है कि मनुष्य मे दोप भी दिखाई देते है; परन्तु वह तो मानव के अन्दर का पशुत्व है, मानवत्व नही। मानवत्व शुभ है, शुभाकाक्षी है, शुभ की ओर अग्रसर है। उसका हृदय-स्यान शुभ से बना है। 'हृद्-देशेऽर्जुन तिष्ठति' जो कहा है सो यही है।

१६२. दूसरा, विश्वरूप।

ईश्वर का दूसरा रूप यह विश्वरूप है। वह परिपूर्ण है। उसमें शुभाशुभ सबकुछ आ जाता है। सन्तरे के फल में बीज, खूजा, छिलका सबकुछ आ जाता है। मीठा, खट्टा, कसैला— तीनो रस आ जाते है। यह सब मिलकर सन्तरा बना है। इन सबको मिलाकर हमसे पूछे कि सन्तरा कैसा है तो हम कहेगे 'बढिया, मीठा, मजेदार।' बीज, खूजा या छिलके से खानेवाले का कोई प्रयोजन नही, उनका उसे महत्व नही। तो भी ये सब फल के रस के पोषक है। मनुष्य की दृष्टि से ये सब गौण हो सकते हं; परन्तु उनसे सन्तरे में बुराई नही आती।

'मनुष्य की दृष्टि से' इसलिए कहा कि फल की परिभाषा में बीज ही मुख्य कहा जायगा। परन्तु दृष्टान्त में केवल सार ही ग्रहण करना चाहिए। कुल मिलाकर जगत शुभ है। सन्तरे की तरह मधुर है। उसमें जो अशुभ भासता है सो शुभ की शोभा बढाने वाला है। वह शुभ छाया-रूप है। उस सबको मिलाकर यह सारा विश्वरूप सुसज्जित है। कभी उससे भय मालूम होता है तो कभी उसके प्रति आकर्षण। ११ वें अध्याय में वर्णन है कि अर्जुन को उससे भय मालूम हुआ। भागवत में कहा है कि प्रह्लाद को उसे देखकर प्रेम व भक्ति उमडी। वह समुद्र व हिमालय की तरह रमणीय-भयानक है, आकर्षक है व विकर्षक भी। इसीलिए विश्व के द्विविध स्वरूप का वर्णन किया जाता है—'मगल व घोर' 'सौम्य और रुद्र' दोनो प्रकार के शिवरूप है; परन्तु दोनो को मिलाकर वह है तो शिव ही।

१६३. तीसरा शुभाशुभ से परे, ब्रह्म-संज्ञित।

ईश्वर का तीसरा रूप शुभाशुभ से परे है। सृष्टि से परे, बुद्धि से परे व आकाक्षाओ से परे, परन्तु वह सबके परे होते हुए भी सबके लिए आधार-रूप है। उसका वर्णन ही नही किया जा सकता। वह शुभ भी नही, अशुभ भी नही, ऐसा नकारसूचक वर्णन ही उसका किया जा सकता है—हकारसूचक भाषा में इतना ही कहा जा सकता है कि वह है। बाकी सब नेति-नेति। वेदान्त में उसे 'ब्रह्म' सज्ञा दी है।

१६४. गीता की परिभाषा में 'सत्', 'सदसत्' 'न सत्, नासत्'।

गीता में ईश्वर का यह तिहेरा रूप भिन्न-भिन्न स्थानो में बताया गया है। इसमें पहला 'मानवी आकाक्षाओ का रूप है' जो केवल शुभ है। भक्तो ने इसे चतुर्भुज रूप माना है। यह रूप मानवी आकाक्षाओ के अनुरूप है, अत वास्तव में मानवी है; परन्तु मानव के प्रत्यक्ष जीवन में वह पूर्णतया प्रकट नही होता। अत उसमें दो हाथ और जोड कर चतुर्भुज बनाया। परमेश्वर के खालिस, शुद्ध, शुभ, मगल रूप को अपने हृदय में अनुभव करना चतुर्भुजरूप

का दर्शन करना है। गीता में इसे 'सत्' कहा है। 'ओ३म् तत्सत्' मे जो सत् है सो यही। उसका चित्र चतुर्भुज चरित्र नीतियुक्त, नाम सत्। दूसरा है विश्वरूप जो ११वें अध्याय मे मिलता है। उसमें शुभाशुभ का समावेश होता है। समग्रता व परिपूर्णता उस स्वरूप की विशेषता है। गीता में इसका शास्त्रीय नाम 'सदसत्' है। 'सदसच्चाहमर्जुन' इस वचन में इसी विश्व-रूप का वर्णन है। तीसरा रूप गुणातीत है, उसमे न आकार है, न विकार, न प्रकार; परन्तु वह सर्वाधार है। गीता ने उसका शास्त्रीय नाम 'नसत् तन् नासद् (उच्यते)' रखा है। १३ वें से लेकर १५ वे अध्याय तक गीता में उसका विस्तार किया गया है।

१६५. तर्क से सदसत् की चार कोटियां हो सकती हैं। इनमें तीन ही ईश्वर पर चरितार्थ।

इस तरह ईश्वर के तीन रूप और उनके अनुसार स्थितप्रज्ञ की तीन अवस्थाए होती है। तर्क द्वारा विचार करने से सदसत् की कुल चार कोटिया सभवनीय है—(१) केवल सत्, (२) केवल असत्, (३)सदसत्, (४)न सत् नासत्। परन्तु तर्क से यद्यपि ४ कोटिया होती है तो भी इनमें तीन ही ईश्वर पर घटित होने जैसी है। केवल 'असत्' कोटि ईश्वर पर चरितार्थ नही होती। वह शैतान पर लागू होती है। ईश्वर का चौथा स्वरूप नही है। अत. स्थितप्रज्ञ की भी चौथी अवस्था नही।

[२]

१६६. ईश्वर के और तदनुसार स्थितप्रज्ञ के जीवन का यह विविध स्वरूप 'ज्ञान-यज्ञेन चाप्यन्ये' श्लोक में सूचित।

इस अर्थ को सूचित करने वाला एक श्लोक नवे अध्याय में आया है। 'सूचित करने वाला' मैने जानबूझ कर कहा है, क्योकि उसका अर्थ सरल नही है। महाभारत में व्यासजी के जो खास श्लोक है उनमें वह एक है। तो भी

भाष्यकारो ने अपने-अपने ढग से उसका अर्थ खोला है। मेरी दृष्टि से उसमें से वही आशय निकलता है जिसका हम यहा विवेचन कर रहे हैं—

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते ।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतो मुखम् ।।

(गी ९-१५)

यह है वह श्लोक। इसका शाब्दिक अर्थ है—'ज्ञान-यज्ञ के द्वारा जो मेरा भजन करते है वे एकत्व से, पृथक्त्व से और बहुरूप से मेरे व्यापक स्वरूप का भजन करते हैं। एकत्व से, पृथकत्व से व बहुधा भजन करने वाले—ये तीन अलग-अलग ज्ञानी नही है, बल्कि एक ही ज्ञानी तीन भूमिकाओ से तीन प्रकार की उपासना करता है। 'न सत् तन् नासद् उच्यते' ऐसे निर्गुण ब्रह्मत्व का अद्वैतमय अनुभव एकत्व से यजन करना है। 'ईश्वर केवल सत् है, असत् नही' ऐसी भूमिका से उपासना पृथकत्व से किया यजन है। और 'सत्-असत् मिलाकर सारा जीवन एक है' ऐसी भूमिका से की गई उपासना बहुधा यजन है।

१६७. इसीका और अधिक स्पष्टीकरण ।

ये तीनो भूमिकाए एक ही ज्ञानी पुरुष की होती हैं। क्रियावस्था में वह ईश्वर को केवल सत्-स्वरूप देखता है। उस समय उसकी पृथक्त्व की अर्थात् विवेक की भूमिका रहती है। 'पृथक्त्वेन' का अर्थ बाज लोग करते है, ईश्वर में व अपने में भिन्नता मानकर भेद-भूमिका से की गई उपासना। परन्तु वह ठीक नही है, क्योकि यहा साधारण भक्ति का वर्णन नही है। ज्ञान-यज्ञ का वर्णन है। भक्ति का वर्णन इसके पहले ही 'सतत कीर्तयन्तो माम्' इस श्लोक में हो चुका है। उसमें जितना चाहिए द्वैत मान लेने की भरपूर गुजाइश है, किन्तु यहा द्वैत-भक्ति की कल्पना करने की आवश्यकता नही, क्योकि यह ज्ञान-यज्ञ है। यहा पृथक्त्व से उपासना का 'सदसद् विवेक' ही अर्थ करना उचित है। बहुधा का अर्थ है शुभ व अशुभ उभय स्वरूप में अनन्त रूपो से ईश्वर सुसज्जित है, ऐसी भूमिका की उपासना। यह स्थितप्रज्ञ

की भावावस्था की उपासना है। इसमें उसकी सबके प्रति अविरोध-वृत्ति सूचित की गई है। इस श्लोक का ऐसा अर्थ करना गीता में वर्णित ईश्वर के त्रिविध स्वरूप से मेल खाता है।

१६८. बाह्य जीवनाकार में भेद दिखाई देने पर भी स्थितप्रज्ञों को तीनों अवस्थाओं का अनुभव होता है।

सभी स्थितप्रज्ञो के जीवन मे ये तीनो भूमिकाए रहती है; परन्तु उनमे भी किसीके जीवन मे क्रियावस्था प्रधान रहती है तो किसीके भावावस्था व किसीके ज्ञानावस्था और उसके अनुसार उनके बाह्य जीवनाकार मे भी फर्क दिखाई देगा, परन्तु किसी भी स्थितप्रज्ञ को इनमें से सिर्फ एक ही भूमिका का नही, बल्कि तीनो का अनुभव रहता है और तीनो अवस्थाओ में जो सर्व-सामान्य अखण्ड अनुभव होता है वह भी एक ही है। तो भी प्रधानता के कारण बाह्य जीवन मे फर्क होता है। इससे लोगो को भिन्न-भिन्न ज्ञानियो मे तुलना करने का भी मोह हो जाता है और अपनी-अपनी रुचि के अनुसार कोई किसीको श्रेष्ठ बताता है व कोई किसीको, परन्तु वास्तव में है यह मोह ही। बाहरी आकार कुछ भी हो तो भी जबतक भीतरी प्रकार एक ही है तबतक वास्तव मे कोई फर्क नही होता। पांच रुपये का नोट हो तो क्या और पाच रुपये के सिक्के हुए तो क्या—कीमत दोनो की बराबर ही है—फर्क सिर्फ आकार का रहा, परन्तु किसी भी भूमिका का प्राधान्य हो तो भी स्थितप्रज्ञ से जो लोकसंग्रह होता है वह समान ही रहेगा। लोक-सग्रह उसके आत्मज्ञान की बदौलत ही होता है। प्रधानता किसी भी अवस्था की हो तो भी उस आत्मज्ञान मे कोई फर्क नही पडता।

[३]

१६९. ये अवस्थाएं परस्पर-सम्बद्ध, परस्पर उपकारक ही हैं।

यहा एक प्रश्न और खडा होता है। स्थितप्रज्ञ की इन तीनों अवस्थाओ का कही योग भी है या नही? जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति—मनुष्य की ये तीन

अवस्थाए जैसी एक-दूसरी से बिलकुल अलग है, वैसी ही क्या ये अवस्थाए बिलकुल भिन्न-भिन्न है ? मनुष्य जब नीद लेता है तो जागृति नही रहती व जागृति में नीद नही होती और स्वप्न में दोनो का पता नही रहता। वैसी ही स्थिति क्या स्थितप्रज्ञ की क्रियावस्था, भावावस्था व ज्ञानावस्था की है, या इनमें कोई परस्पर सम्बन्ध भी है ? इसका उत्तर यह है कि जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति का उदाहरण यहा लागू नही होता, क्योकि जागृति इत्यादि तो सामान्य मनुष्य की तरह ज्ञानी को भी होती है, परन्तु जिन तीन अवस्थाओ की हम चर्चा कर रहे है वे तो ज्ञानी पुरुष की जागृति-काल की है। सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो निद्रादि अवस्थाए भी बिलकुल असम्बद्ध नही है। नीद का परिणाम जागृति पर और जागृति का नीद पर काफी होता है। यदि नीद अच्छी आई हो तो जागृति भी अच्छी रहेगी और जागृति में यदि डटकर काम किया हो तो नीद भी अच्छी आती है। इसी तरह स्वप्न का भी जागृति पर और जागृति का स्वप्न पर परिणाम हुए बिना नही रहता। और ज्ञानी पुरुष की तो जागृति-काल की ही ये तीन अवस्थाए है। अत इन तीनो का प्रभाव एक-दूसरी पर पडना ही चाहिए। यह असम्भव है कि एक अवस्था में रहते हुए वह दूसरी अवस्थाओ की भूमिका से बिलकुल अछूता बना रहे।

१७०. इस विषय में सनातनियों की तर्क-प्रणाली भ्रमपूर्ण।

यह चर्चा यहा इसलिए छेडी कि "ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ता, चाण्डाल—ये सब पण्डित की दृष्टि में एक-से होते है।" इस गीता-वचन पर कुछ वेदान्ती कहते है कि "यह वाक्य भावावस्था का है। यह क्रियावस्था पर लागू नही पडता। भावावस्था में सबको एक-सा मानने पर भी क्रियावस्था में विवेक रखना ही पडता है। इस स्थूल विवेक के आश्रय से गाय के साथ गाय की तरह और मनुष्य के साथ मनुष्य की तरह व्यवहार करना पडता है। स्थित-प्रज्ञ पागल तो है नही। भावावस्था के अद्वैत के आधार पर क्रियावस्था का

भेद न मानना मानो वड की छाल पीपल पर चिपकाने जैसा है" इस तर्क-प्रणाली का आधार लेकर सनातनी कहते है—"आप जो यह समझते हैं कि हम ब्राह्मण व हरिजन में भेद-भाव करते है सो वात नही। वह भेद नही, विवेक है। अभेद का विरोध भेद से हो सकता है, विवेक से नही हो सकता।" उनका यह कथन विचारणीय है। यह कहना तो युक्तियुक्त है कि एक विशेष भूमिका में एक विशेष अवस्था रहेगी ; परन्तु इसमें जो यह मानकर चला गया है कि इन अवस्थाओ मे परस्पर सम्बन्ध नही है, सो ठीक नही है। भावना का प्रभाव क्रिया पर, क्रिया का भावना पर और ज्ञान का दोनो पर अवश्य होता है। ज्ञान व भाव अकिंचित्कर—न कुछ—नही है। वे ऐसे नही कि दियासलाई की डिबिया की तरह जब चाहा जेब में रख लिया व जब चाहा सुलगा ली। वे जीवन में घुले-मिले होते है।

१७१. क्रियावस्था पर भावावस्था का प्रभाव : दृष्टान्त सोने की अंगूठी व सभा के अध्यक्ष।

उदाहरण के लिए पहले हम क्रियावस्था व भावावस्था की तुलना करेगे। विचार करने पर ऐसा दिखाई देगा कि क्रियावस्था पर भी, उस भूमिका के विवेक की रक्षा करते हुए, भावावस्था का प्रभाव पडना ही चाहिए। मुझे सोना अगुलियो मे पहनना है तो चाहे जिस आकार का सोना नही चलेगा। वह अगूठी के आकार का ही होना चाहिए। वैसे आकार का न होगा तो उससे मेरा काम नही चलेगा। अत मै उसे न लूगा ; परन्तु उसका आकार भिन्न है, इसलिए मै उसे फेंक भी नही दूगा, क्योकि मै सोने की कीमत जानता हू। भावावस्था मे मुझे यह दर्शन हुआ है। यह सारा शुभ-अशुभ जगत् ब्रह्मस्वरूप है, खालिस सोना है। अब फर्ज कीजिए कि सज्जनो की एक सभा के लिए सभापति की जरूरत है तो उस समय स्थित-प्रज्ञ किसी साधु-पुरुष को ही उस पद के लिए चुनेगा। दुर्जन को तो नही पसन्द कर लेगा ; परन्तु ऐसा करते हुए वह दुर्जन के प्रति तिरस्कार-भाव नही रखेगा। दुर्जन भी तो एक आकार मे परमेश्वर ही है।

सज्जन दूसरे आकार में परमेश्वर है। सज्जनो की सभा के लिए सज्जनो के आकार वाला ही परमेश्वर उचित है, इसलिए उसे चुना— वस क्रियावस्था मे ज्ञानी पुरुष इस तरह वर्तता है। इसका अर्थ यह नही कि वह भेद-भाव रखता है। भीतरी एकता को पहचानकर वह बाहरी व्यवहार में विवेक से काम लेता है। वाह्य व्यवहार के आकार में फर्क करते हुए वह इतनी चिन्ता रखता है कि भीतरी अभेद-भाव सुरक्षित रहे। वह समदृष्टि से देखता है इसका अर्थ यह नही कि वह प्लेग और क्षय दोनो में एक ही दवा देगा। क्रियावस्था मे उसे आकार देखकर चलना पडता है; परन्तु भावावस्था का अनुभव उसे वताता है कि विवेक से काम लेते हुए भी यह भूलना नही है कि यह सवकुछ ब्रह्मरूप है। किसी भी वस्तु का अनादर मत करो। सबके प्रति आदर-भाव रखो।

१७२. भावावस्था पर क्रियावस्था का प्रभाव : दृष्टान्त, कुष्ठरोगी-सेवा।

एक अवस्था का अनुभव व ज्ञान दूसरी अवस्था में भूल नही सकता। व्यवहार मे भी हम ऐसा ही देखते है। मनुष्य विलकुल ऐकान्तिक भूमिका लेकर नही रह सकता। एक विनोदशील मित्र एक मजेदार वात सुनाया करते हैं। गणित के एक प्रोफेसर घूमने निकले। रास्ते में एक शख्स ने पूछा— स्टेशन कहा है ? प्रोफेसर महाशय ने उत्तर दिया—भूगोल मेरा विषय नही है। प्रोफेसर साहव का खयाल था कि गणित के प्रोफेसर से भूगोल के ज्ञान का क्या वास्ता ? यह सच है कि भावावस्था की सव भावनाए क्रियावस्था पर लागू नही होती, तो भी क्रियावस्था में भावावस्था के तत्त्व की विस्मृति नही हो सकती, वल्कि जिसमें भावावस्था की भूमिका प्रधान होगी वह भी क्रियावस्था के विवेक की उपेक्षा नही करेगा। यह नमक है, यह शक्कर है, यह लाल या पीला रग है, या यह वस्तु चौकोर, गोल, आदि है—इन वातो का ज्ञान उसे रहता ही है। कल को यदि यह सिद्ध हो जाय कि किसी वाह्य कारण से व्यक्तिगत अथवा सामाजिक स्वास्थ्य के लिए

किसी व्यक्ति को जैसे किसी कुष्ठ रोगी को न छूना मुनासिब है तो वह भी अपनी क्रियावस्था मे ऐसा करेगा। वह खुद इस महारोगी की सेवा करेगा। खुद अपने को खतरे मे डाल देगा, परन्तु इस बात का अहतियात जरूर रखेगा कि खुद उसे यह बीमारी न लग जाय। उसका आशय यह नही है कि वह बीमारी खुद उसे लग जाय, बल्कि यह है कि कुष्ठ रोगी का रोग दूर हो। इतना खतरा उसने मोल ले लिया कि बीमारी लगना ही हो तो मुझे लगे। पर दूसरो को न लग जाय, इसलिए वह रोगी को समाज से दूर रखेगा और जरूरत पडने पर खुद भी दूर रहेगा, परन्तु इस नियम में रोगी के प्रति आस्था, अनुकम्पा व आदर-भाव रहेगा। वह इस भाव को नही भूलेगा कि कुष्ठ रोगी भी ईश्वर-रूप है; परन्तु समाज के बचाव के लिए वह सावधानी रखेगा, यह उसका विवेक हुआ, परन्तु यदि वह कुष्ठ रोगियो को अपवित्र समझकर उन्हे दूर रखने लगे, उनकी सेवा की उपेक्षा करने लगे, उनका तिरस्कार करने लगे तो उसकी ईश्वर को सर्वत्र देखने की भावना बिलकुल खतम हो जायगी। फिर उसकी स्थितप्रज्ञावस्था का मतलब ही क्या रहा? 'सबकुछ एक ही है' यह भावावस्था है, क्रियावस्था नही— सनातनी लोगो का यह कहना सत्य है, परन्तु उनका यह खयाल गलत है कि ये अवस्थाए एक-दूसरे से अत्यन्त भिन्न है। वे एक ही निष्ठा के विभिन्न प्रकार है। इस तरह विचार करने पर सनातनियो के कथन का सार भी दिखाई दे जायगा और असार भी मालूम हो जायगा।

सत्रहवां व्याख्यान

[१]

१७३. भाव द्वारा क्रिया का नियमन होता है—अधिक विवरण ।

स्थितप्रज्ञ की तिहेरी अवस्था का विवरण हम कर रहे है। ज्ञान, भाव व क्रिया—ये तीन अवस्थाए भले ही आक्रमणकारी न हो तो भी अनुग्रहकारी जरूर है। अर्थात् यद्यपि वे एक-दूसरे के सिर पर नही चढ बैठती तो भी परस्पर प्रभाव डाले बिना नही रहती। इन्द्र-धनुष के भिन्न-भिन्न रग यद्यपि सब अपने-अपने तौर पर जुदा दीखते है तो भी उनकी छटा एक-दूसरे पर झलकती है और उन सबका मिलकर इन्द्र-धनुष होता है। उसी तरह ये तीन अवस्थाए मिलकर ज्ञानी पुरुष का जीवन बनता है। उदाहरण के लिए भाव बनाम क्रिया जैसी स्थिति हो तो क्या होगा, इसका हमने विचार किया। क्रियावस्था पर यदि भावावस्था का अनुग्रह न रहा तो विवेक की परिणति भेद मे होने की सभावना है। जैसे सनातनियो की हरिजनो के खिलाफ दलील (तर्क-प्रणाली)। वस्तुत यह दलील फिजूल है, क्योकि उसमें विवेक के नाम से जो बताया गया है वह विवेक नही, महज भेद ही है। मनुष्य किसी भी मनुष्य-जन्म पाये हुए को जन्मत अस्पृश्य माने तो इसमें विवेक कहा का ? वह तो परपरागत मूढ भेद ही साबित होता है। विवेक व भेद ये दोनो बिलकुल भिन्न-भिन्न भूमिका रखते है। खाद्य व अखाद्य के विचार को विवेक कह सकते है। विवेक के

उदाहरण के तौर पर हमने कुष्ठ रोगी की मिसाल ली थी। कुष्ठ रोगी को हम दूर तो रखेगे परन्तु उसमे उनके प्रति सहानुभूति, सेवाभाव और समादर रहना चाहिए। अलग रखना यदि प्रेमभाव-प्रेरित होगा तो वह विवेक होगा, नही तो वह भेद ही है। दूसरा उदाहरण न्यायाधीश का ले सकते है। न्याय करते हुए न्यायान्याय-विवेक तो करना ही चाहिए, नही तो न्याय का कोई मतलब ही नही रह जाता। परन्तु उस क्रिया पर सर्वात्मभाव की मुहर लगनी चाहिए। यहा यदि सीधी-सादी भाषा मे कहे तो न्याय मे दया का मिश्रण चाहिए। तभी वह समुचित न्याय होगा। आत्मौपम्य-बुद्धि के बिना न्याय बदले का रूप धारण कर लेगा।

१७४. वही बात ज्ञान के द्वारा भी। उसीसे निष्काम कर्मयोग का जन्म होता है।

जिस प्रकार भाव द्वारा क्रिया का नियमन होना चाहिए उसी तरह ज्ञान द्वारा भी क्रिया का नियमन होना चाहिए। ज्ञानावस्था की भूमिका इस प्रकार है—मै शुभ व अशुभ से परे हू। शुभ व अशुभ मेरी दृष्टि से दोनो त्याज्य ही है और क्रिया में तो शुभाशुभ-विवेक आवश्यक है। इस तरह ये दोनो भूमिकाएं परस्पर-विरोधी भासती है, परन्तु ऐसी भासने पर भी वे वस्तुत. परस्पर-अनुग्राहक है। ज्ञानावस्था भिन्न-भिन्न हो तो भी ज्ञानी पुरुष की क्रिया पर उसके ज्ञान की प्रभा छिटकती है। उसके ज्ञान का रग उसकी क्रिया पर चढता है। उसकी क्रिया उसके ज्ञान से प्रकाशित व मण्डित होती है। क्रिया में शुभाशुभ-विवेक होता हो तो भी शुभ व अशुभ दोनो मिथ्या है, यह ज्ञान उसे अवश्य रहता है। इससे क्रियावस्था में भी वह अलिप्त व निरहकार रहता है। सिर्फ ज्ञानावस्था मे ही सर्वकर्म-संन्यास की भूमिका रहती है। क्रियावस्था में वह शुभाशुभ-विवेक से काम लेता है। तो भी ज्ञानावस्था के ज्ञान के कारण अहकार या लिप्तता नही आने पाती। उसीमे से निष्काम कर्मयोग का जन्म होता है।

१७५. 'मुक्त को चिन्तते खुद ही मुक्त होते ।' अतः स्थितप्रज्ञ की अवस्था का ज्ञान साधक व समाज के लिए आवश्यक ।

इस तरह ये तीनो अवस्थाए परस्पर सस्पृष्ट , परस्पर समिश्र है । ये तीनो मिलकर स्थितप्रज्ञ का एक ही परिपूर्ण व भव्य जीवन बनता है , परन्तु स्थितप्रज्ञ के जीवन का यह भव्य लक्षण जानन से हमें क्या लाभ ? यह प्रश्न मन में उठ सकता है । उसका उत्तर ज्ञानदेव देते हैं—'मुक्त को चिन्तते खुद ही मुक्त होते ।' मुक्त पुरुष के जीवन का चिन्तन करने से हमें अपनी मुक्ति के दर्शन होते है । मुक्ति अकेले स्थितप्रज्ञ की वपौती नही है, वह तो सभी की निज-वस्तु है । मुक्त पुरष के चिन्तन से हमारी खोई हुई वस्तु खोज निकालने की दिशा हाथ लगती है । अत उनका जीवनादर्श और जीवन-स्पर्श साधक व समाज के लिए उपयोगी है । उसकी ये अवस्थाए यद्यपि उसके लिए स्वाभाविक हैं तो भी हमे वे प्रयत्न से ही साध्य होगी और इसलिए अनु-करणीय है । हमें उस दिशा मे जाना है । अपना जीवन तदभिमुख वनाग्ना है । उसकी आदत डालनी है । सारे समाज के ऐहिक जीवन की सार्थकता भी उस जीवन के मोक्ष-प्रवण होने मे है । स्थितप्रज्ञ के उदाहरण से यह मालूम होता है कि हमारा जीवन छुटकारे का साधन हो सकता है । स्थितप्रज्ञ में हमें परिपूर्ण व निर्दोप आदर्श का दर्शन होगा और लोगो के प्रयत्न में दोष रहेगे—कमिया रहेगी । तो भी आत्मा का स्वरुप सर्वत्र समान ही होने के कारण स्थितप्रज्ञ के जीवन की अवस्थाओ का ज्ञान साधक व समाज के लिए आवश्यक है ।

[७]

१७६. स्थितप्रज्ञ की त्रिसूत्री 'ॐ तत् सत्' के द्वारा सूचित ।

इस जगह त्रिसूत्री में वर्णित विषय भगवद्गीता में १७ वे अध्याय के अन्त मे 'ॐ तत् सत्' मत्र के द्वारा वताया गया है । मत्र यद्यपि शब्दात्मक है तो भी उसका सामर्थ्य विलक्षण होता है । वह वस्तु-शून्य नही होता । मत्र तोप के गोले से भी वलवान होता है । मत्र जीवन को मोडता है । मत्र के प्रभाव व

प्रेरणा से मनुष्य स्वेच्छा से अपना जीवन तदनुरूप बनाने लगता है। स्थितप्रज्ञ के जीवन-पथ पर सब लोग चल सके, इसलिए गीता ने दयालु होकर यह चिन्तामणिरूप मत्र हमें दिया है। वह वेद और उपनिषदो का मार-रूप समझा जाता है।

१७७. पहला पद ॐ। ॐ शब्द भावावस्था की लब्धि के लिए भावनीय।

उनमें ॐ पहला पद है। ॐ माने ईश्वर-तत्व। विराट, व्यापक,विशाल। सबका समावेश करने वाला ब्रह्म का सगुण स्वरूप। ॐ अक्षर है और शब्द भी है। शब्द के रूप मे ओ३म् का अर्थ 'हा' है। ॐ ईश्वर का 'हा' रूप है। "तुका बोले जो-जो कहे सो-सो विट्ठल को सोहै।" इस तरह तुकाराम ने ईश्वर का हकारात्मक वर्णन किया है। वह साकार है?—'हा'। निराकार है?—'हा'। शुभ है ?—'हा'। अशुभ है ? —'हा'। सगुण है ?—'हा'। निर्गुण है ? —'हा'। अणु है ? महान् है ? इत्यादि सब प्रश्नोका उत्तर है—'हा'। "इदमय अदोमय" वह यह भी है और वह भी है। जो कुछ कल्पना मे समाता है और नही भी समाता है उस सबको अपने उदर मे समा लेने वाला जो व्यापक, विशाल, भव्य रूप है उसका वाचक ॐ शब्द है। अत भावावस्था की उपलब्धि के लिए ॐ शब्द भावनीय है।

१७८. ॐ अक्षर वर्ण-मात्र का प्रतीक

अक्षर के रूप मे ॐ वर्ण-मात्र का प्रतीक माना जाता है। उसकी शुरुआत 'अ' से है और अन्त 'म्' मे है। इन दोनो को जोडने वाला साधा है 'उ'। वर्णमाला का आरम्भ 'अ' से होकर 'म' मे उसकी समाप्ति होती है। वर्ण का उगम कण्ठ से होता है और समाप्ति ओठ पर। 'अ' वर्ण का आदि कण्ठ से उच्चरित और 'म' ओष्ठ स्थान से उच्चरित अन्तिम वर्ण है। 'म' का उच्चारण करते हुए हम दोनो ओठ मिला लेते है और नाक से भी कुछ काम लेते है। अत. 'म' के वाद कोई वर्ण नही है। हम 'म' के वाद य, र, ल, व, की गिनती करते हैं, परन्तु वे आन्तर स्थान से उत्पन्न होने वाले वर्ण हैं। कण्ठ और ओष्ठ

के दरम्यान उनका स्थान है। कण्ठ और ओष्ठ के बीच के स्थान से उत्पन्न होने वाले वर्णों का प्रतिनिधि 'उ' मौजूद है। 'उ' का अर्थ है उभय, इधर व उधर की सधि मिलाने वाला। साराश, सर्व सारस्वत, सर्व साहित्य, सर्व शुभाशुभ वाङमय ॐ में आ गये। यह उपपत्ति है तो काल्पनिक, परन्तु इस तरह सारी वाणी का एक प्रतीक कल्पित करने में व्यापक, विश्वरूप, ईश्वर-तत्व के चिह्न के तौर पर वह चिन्तन में उपयोगी होता है।

१७९. ॐ की व्युत्पत्ति : ॐ एक धातु-रूप।

तुलनात्मक व्युत्पत्ति का विचार करते हुए मेरा खयाल है कि ॐ एक धातु-रूप है। 'सर्वत्र व्याप्त हो के रहना' उस धातु का मूल अर्थ है। जो स्वरूप भूतमात्र में पिरोया हुआ है, वह ॐ है। 'उमा' शब्द में भी यही धातु है और उसका अर्थ है विश्वव्यापिनी देवी। इसी धातु में 'वि' उपसर्ग जोडकर परम-व्यापक आकाश का सूचक "व्योमन्" शब्द बना है। लैटिन का 'ऑम्निस अर्थात् सर्व या विश्व इस ओम् की ही विकृति है। 'आम्निप्रेजेंट' इत्यादि अग्रेजी शब्दो में लैटिन की यही विकृति पाई जाती है। इस तरह सारा विचार करते हुए स्थितप्रज्ञ की सकल विश्व को आलिंगन करने वाली भावावस्था को सूचित करने के लिए 'ॐ' रूपी मन्त्रावयव बिलकुल उपयुक्त प्रतीत होता है।

१८०. दूसरा तत्। ज्ञानावस्था की प्राप्ति के लिए चिन्तनीय

दूसरे पद 'तत्' का अर्थ है वह। जो न सत् न असत्—वह। वह यानी जो यह नही है, जो पास का नही है अर्थात् जो कल्पना से परे है। 'तत्' के चिन्तन से ज्ञानी पुरुष की ज्ञानावस्था सिद्ध होती है। 'तत् त्व असि' तू वह है, इस वाक्य में वह अवस्था दर्शाई गई है। यह कूडा-करकट, यह त्रिगुणात्मक जगत् तू नही है, तू इसके परे है, तुझे किसीका भी स्पर्श नही—यह बोध 'तत् त्व असि' इस वाक्य के द्वारा कराया गया है। वही यह 'तत्' है।

१८१. तीसरा पद 'सत्'। क्रियावस्था की सिद्धि के लिए सेवनीय।

तीसरा पद है 'सत्'। यह तो स्पष्ट ही है। अशुभ को छोडकर जो शुभ को ग्रहण करता है वह है सत्। 'सत्य का आग्रह, असत्य का त्याग' इस भूमिका को 'सत्' सूचित करता है। सत् अर्थात् 'शुद्ध' ब्रह्म।

१८२. कुल मिलाकर 'ॐ तत् सत्' यह मन्त्र व्यापक, अलिप्त और परिशुद्ध जीवन का वाचक है। वही किसी भी पूर्ण विचार का स्वरूप है।

इस तरह 'ॐ' से व्यापक ब्रह्म, 'तत्' से निर्गुण ब्रह्म और 'सत्' से शुद्ध ब्रह्म का बोध होता है। ये तीन पद ज्ञानी पुरुष की तिहेरी अवस्था के द्योतक है। ये तीनो अवस्थाए बिलकुल अलग-अलग नही है। हमने यह तो पहले देखा ही है कि ये तीनो अवस्थाए मिलकर ज्ञानी पुरुष का एक ही जीवन बनता है। क्रियावस्था मे 'सत्' प्रधान होता है। स्थूल जीवन का मुख्य भाग क्रिया ही है। मनुष्य का व्यक्त, प्रकट जीवन क्रियात्मक ही होता है। महापुरुषो के जो जीवन-चरित्र लिखे जाते है उनमे उनके द्वारा किये गए कार्यों का ही मुख्यतया वर्णन होता है, क्योकि जीवन का मुख्य दृश्य-भाग क्रिया ही है। उसके अनुसार 'सत्' को मुख्य शब्द समझना चाहिए। अर्थात् व्याकरण की भाषा मे वह सज्ञा होगा। 'ॐ' व 'तत्' इन दोनो का उसको विशेषण समझना चाहिए। क्रियावस्था को मुख्य मानकर उसे मडित करने के लिए दोनो अवस्थाओ के विशेषण जोड ले। उभय-विशेषण-विशिष्ट 'सत्' शब्द अर्थात् 'ॐ तत् सत्' मत्र, (ॐ अर्थात्) व्यापक, (तत् अर्थात्) अलिप्त, (सत् अर्थात्) परिशुद्ध जीवन का द्योतक होगा। इस तरह व्यापक, अलिप्त और परिशुद्ध अथवा सत्यमय यह सब मिलकर पूर्ण जीवन का स्वरूप बनता है और यही किसी भी पूर्ण विचार अथवा पूर्ण प्रयोग का स्वरूप होगा।

१८३. उदाहरणार्थ—सत्याग्रह ।

उदाहरण के लिए हम सत्याग्रह का स्वरूप लें। सत्याग्रह में सत् का आग्रह और असत् का विरोध तो स्पष्ट ही है, लेकिन सत्य को अपनाकर असत्य का प्रतिकार करते समय विश्वात्मभाव को न भूलना चाहिए। सामने वाला अर्थात् प्रतिपक्षी भी मेरा ही रूप है, यह व्यापक ज्ञान सतत बना रहना चाहिए। अपने हाथ में लगे काटे को जिस तरह सभल कर व हल्के हाथ से मै निकालता हू उसी सावधानी व चिन्ता से दूसरे के जीवन के दोष निकालने का प्रयत्न करूगा—यह ध्यान रख कि यह कार्य ऊपर से उसे सुधारने का भले ही दिखाई दे, परन्तु वस्तुत तो यह तेरा अपना ही सुधार-कार्य है। न क्रोध कर, न चिढ, क्योकि जहा तुझे अशुभ दिखाई देता है वह शुभ भी है। उसे देख। उस शुभ के द्वारा उसके हृदय मे प्रवेश कर, तब तू अशुभ का भी सफलतापूर्वक प्रतिकार कर सकेगा। ॐ पद के द्वारा यही सुझाया गया है। ॐकार कहता है—जिसका तू प्रतिकार करना चाहता है, जिसे तू अशुभ समझता है वह भी ईश्वर का ही स्वरूप है, इस भावना की छाप तेरे प्रतिकार पर पडने दे। यही सत्याग्रह की बुनियाद है। यह सब करने के बाद यह मेरी विजय हुई, यह सब मैने किया है, ऐसा भास न होने दे। यह ध्यान रख कि वस्तुत यह सब खेल है, मृगजाल। इस सबसे तेरा और उसका वास्तविक रूप अलग है। खेल में फसकर अपना मान मत भूल। खेल खेल ही रहना चाहिए। निरन्तर यह भेद याद रहना चाहिए कि हम इससे अलग है। यह अलिप्तता का तत्त्व 'तत्' पद से सूचित किया गया है।

१८४. यही बात सारे जीवन पर लागू होती है।

सत्याग्रह का दृष्टान्त तो उदाहरण के लिए था। सच पूछिए तो मनुष्य-जीवन के प्रत्येक आचार के लिए यही सूत्र है। पुत्र पिता से, पिता पुत्र से, शिष्य गुरु से, गुरु शिष्य से तथा ऐसे ही दूसरे सम्बन्धो में परस्पर कैसा व्यवहार करे, इसका सूत्र इस मत्र में दिया गया है। इस मत्र के तीनो शब्दो को

मिलाकर जो भाव बनता है वह उसके प्रत्येक शब्द मे गृहीत समझना चाहिए। अगर शुभाशुभ का सग्रह करने वाला केवल ध्यानावस्था का तत्व ही उसमें से अलग निकाल लें तो जीवन-व्यवहार के लिए आवश्यक विवेक ही खतम हो जायगा और अगर शुभाशुभ के परे की अकेली ज्ञान की ही भूमिका ग्रहण करे तो सारे कर्म ही लुप्त हो जायगे। अगर सिर्फ शुभाशुभ-विवेकयुक्त क्रियावस्था को अपनावें तो विवेक के नाम पर जीवन मे असख्य भेद उत्पन्न हो जायगे। जीवन खण्डित और भेद-सकुल बन जायगा। इसलिए तीनो स्वरूपो का एकसाथ विचार करके जब क्रिया की नीति और स्वरूप का निश्चय करेंगे तभी वह निर्दोष होगी। ये तीनो बाते ध्यान में रखकर ही यहा स्थित-प्रज्ञ के लक्षण बताये गए है।

[३]

१८५. उपसंहार–अर्जुन के प्रश्न का आकार और उसके अनुसार स्थितप्रज्ञ-लक्षणों का प्रवाह।

यहा पर स्थितप्रज्ञ के लक्षण समाप्त होते है; लेकिन हम एक बार फिर अर्जुन के मुख्य प्रश्न का आकार ध्यान से देखे तो स्थितप्रज्ञ के लक्षणो का प्रवाह हमारी समझ मे आ जायगा। अर्जुन का पहला प्रश्न है—स्थितप्रज्ञ की भाषा बताइए। भाषा का अर्थ है व्याख्या। सो एक ही श्लोक मे भगवान् ने विधायक व निषेधक दोनो प्रकार को मिलाकर एक परिपूर्ण व्याख्या दे दी। यो उसके प्रश्न का उत्तर दिया तो—लेकिन अर्जुन केवल व्याख्या पूछकर ही नही रुका। उसने यह भी पूछा कि स्थितप्रज्ञ कैसे रहता है और कैसे चलता-फिरता है। इसका उत्तर उन्होने ऐसा नही दिया कि वह इस तरह बोलता है, मधुर या कठोर बोलता है, वह इस तरह रहता है—गरीबी से या मध्यम अवस्था मे रहता है, वह इस तरह चलता है—द्रुत अथवा मद गति से चलता है, आदि। तीनो प्रश्नो का अर्थ सारे जीवन को लेकर किया है। बोलना, चलना और रहना इसका अर्थ हम समग्र जीवन ही लेते है और यही अर्थ ग्रहण करके यहा उत्तर दिया गया है। फिर इस उत्तर मे तीनो प्रश्नो के अक्षरार्थ के

संकेत भी अस्पष्ट रूप से मिलते है। 'कैसे बोलता है ?' इस प्रश्न के द्वारा स्थितप्रज्ञ की व्याख्या का स्थूल विवेचन अथवा उसका प्रत्यक्ष आचरण जानने की इच्छा की गई है, यह मानकर तीन श्लोको में उसका उत्तर दिया है। उसके प्रश्न का बिलकुल अस्पष्ट सकेत "नाभि नन्दति न द्वेष्टि" अर्थात् वह न किसीका अभिनन्दन करता और न किसीको बुरा ही बताता है, इन शब्दो में सूक्ष्मदर्शी टीकाकारो ने खोज निकाला है। 'कैसे रहता है ?' इन शब्दो में उसने यह अवस्था कैसे प्राप्त कर ली है, किस साधना से की है, यह जिज्ञासा मानकर उसका वर्णन उपपत्तिसहित दस श्लोको में किया है। 'किमासीत' ? इस प्रश्न का सकेत "आसीतमत्पर" मे झलकता है। अन्त में 'किं व्रजेत'? अर्थात् फिर कैसे है, इस प्रश्न के उत्तर में स्थितप्रज्ञ का विहार-वर्णन करने वाली त्रिसूत्री कही गई है। "पुमाश् चरति नि स्पृह" इसमें 'चरति' शब्द में उस प्रश्न का सकेत समझ लें। कुल मिलाकर अर्जुन का प्रश्न इस तरह बनता है—(१) समाधि में स्थिर हुआ जो आपका स्थितप्रज्ञ है उसके विधायक और निषेधक दोनो रूपो को लेकर परिपूर्ण व्याख्या क्या होगी ? (२) स्थितप्रज्ञ का प्रकट, प्रत्यक्ष, सबके लिए सुबोध अनुकरण-सुलभ लक्षण क्या होगा ? (३) किस साधन और किस उपपत्ति से उसने वे लक्षण अपने में उतारे होगे ? (४) स्थितप्रज्ञ के इस लोक की जीवन-यात्रा अथवा जीवन-लीला के स्वरूप की भूमिका कैसी होगी ? यदि अर्जुन के इस प्रश्न का ऐसा व्यापक अर्थ करें तो फिर उससे ठीक वही अर्थ फलित होगा जो यहा दिया गया है।

अठारहवां व्याख्यान

[१]

१८६. स्थितप्रज्ञ-लक्षणों की अनुभवसिद्ध फलश्रुति ।

स्थितप्रज्ञ-लक्षण यहा समाप्त होते है । अब अन्तिम श्लोको मे फलश्रुति कही गई है, परन्तु कई लम्बे-चौडे धर्म-ग्रन्थो की फलश्रुति जैसी वेकार होती है वैसी पद्धति गीता की नही है ।

गीता में हर जगह अनुभव-सिद्ध, युक्तियुक्त और सुनिश्चित फलश्रुति बताई गई है । यहा भी वैसी ही शास्त्रीय फलश्रुति दी गई है ।

एषा ब्राह्मी स्थिति पार्थ नैना प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥

"हे अर्जुन ,इस स्थिति को ब्राह्मी स्थिति कहते है । जो इसे प्राप्त कर लेता है वह फिर उससे नही डिगता, मरण-काल मे भी वह स्थिति ज्यो-की-त्यो कायम रहती है और इसके फलस्वरूप वह ब्रह्म-निर्वाण प्राप्त करता है ।" आखिरी श्लोक में यही फलश्रुति बताई है ।

१८७. 'स्थिति' शब्द वा स्वारस्य ।

यहा का 'स्थिति' शब्द 'वृत्ति' से पृथकता सूचित करता है । 'स्थितप्रज्ञ' शब्द में भी यही शब्द प्रयुक्त हुआ है । 'वृत्ति' और 'स्थिति' शब्दो का अन्तर उनके धात्वर्थ पर ध्यान देने से और अधिक स्पष्ट होगा । 'स्थिति' मे 'स्था' धातु है । 'स्था' का अर्थ है खडे रहना । इसमें स्थिरता का, अचाचल्यका भाव है । 'वृत्ति' मे वृत् धातु है । इसका अर्थ है गोल-गोल घूमना,

घूमते रहना। 'वर्तुल' शब्द में भी यही धातु है। 'वृत्ति' में अस्थिरता का, एक जगह टिककर न रहने का भाव है। मनुष्य की वृत्तिया टिकती नही है। वे बदलती रहती है। जागृति के वाद सुषुप्ति आती है और सुषुप्ति से स्वप्न। फिर जाग्रतावस्था में कभी क्रोध-वृत्ति, व कभी मोह, उत्साह व नैराश्य आदि कई वृत्ति-भेद पाये जाते है। इस तरह अनेक वृत्ति-भेद होते हुए भी योगशास्त्र ने उनके पाच वर्ग बनाये है। इन पाचो प्रकार की वृत्तियो से अलग होना ही 'योग' है। इसको साधने के लिए आठ सीढिया वताई गई है। उनमें अतिम सीढी है समाधि अर्थात् 'ध्यान-समाधि'। लेकिन ध्यान-समाधि योग नही है, क्योकि वह भी एक वृत्ति ही है। हा, वह आखिरी वृत्ति है, फिर भी वह योग नही है। योग अर्थात् सब वृत्तियो का अभाव अथवा अधिक सही भाषा में कहे तो सब वृत्तियो के प्रभाव का अभाव। समाधि है ध्यान-वृत्ति का परिपाक। यो तो मनुष्य की वृत्ति या तो विक्षिप्त अर्थात् चचल या गतिमान रहती है, अथवा शून्य होती है। समाधि में वह स्थिर होती है। स्थिर कहते ही 'स्था' धातु आ जाती है सही, परन्तु वह उतने ही समय के लिए।

१८८. आत्म-ज्ञान और ध्यान-समाधि का भेद—ध्यान उतर जाता है।

समाधि से मुख्य लाभ यह होता है कि दूसरी सब वृत्तियो को हटाकर एक इष्टदेव के चिन्तन की वृत्ति ही उसमें बाकी रहती है। इष्टदेव को हम सर्व-मगल गुणो से परिपूर्ण मानते है, इसलिए उसके चिन्तन से चित्त का मैल धोने में बडी सहायता मिलती है। लेकिन यह ध्यान-समाधि भी कुछ समय बाद उतर जाती है। ध्यान-समाधि-रूप वृत्ति के भी उस पार जाने पर वृत्ति-शून्य स्थिरता प्राप्त होती है। इसे योगशास्त्र में 'प्रज्ञा' कहते है। इसी प्रज्ञा के स्थिर होने पर चित्त सहज ही निर्मल, प्रसन्न, शान्त व आत्म-निष्ठ रहता है। यही ब्राह्मी स्थिति है। यही स्थितप्रज्ञ की हमेशा टिकने वाली सहजावस्था होती है। समाधि की वृत्ति लानी पडती है। उससे व्युत्थान होता है। व्युत्थान का अर्थ है चलन। इसमें यह व्युत्थान नही है। ब्राह्मी स्थिति और ध्यान-समाधि

में यही अन्तर है। आरम्भ में ही हमने इसे देख लिया है। उसीका यहा अधिक विवरण किया है। ब्राह्मी स्थिति नित्य है। उसके प्राप्त हो जाने पर फिर उससे चलन नही होता। "नैना प्राप्य विमुह्यति"—फिर मोह नही होता। अन्य ज्ञानो की तरह आत्मज्ञान में 'पुनश्च हरि ॐ'—फिर से श्रीगणेश नही करना पडता।

१८९. आत्मज्ञान और अन्य ज्ञान का भेद। अन्य ज्ञान भार-रूप।

'ज्ञान' व 'ध्यान' में तो भेद है ही, परन्तु आत्मज्ञान और अन्य ज्ञानो मे भी भेद है। ध्यान कृत्रिम होता है। वह प्रयत्नपूर्वक स्वीकार की गई वृत्ति है। ज्ञान वैसा कृत्रिम नही है,वह प्रयत्नपूर्वक लाया हुआ नही होता। यह तो हुआ ज्ञान और ध्यान का अन्तर, परन्तु अन्य सव प्रकार के ज्ञानों और आत्मज्ञान में भी महत्वपूर्ण अन्तर है। मैंने भूगोल का अभ्यास किया। परीक्षा समाप्त हुई कि अव उस ज्ञान की आवश्यकता नही रही। उसे भूल गये। काशी में रहते हुए युक्तप्रान्त की रेलगाडियो का समय-पत्रक मुझे याद था, पर अव उसकी जरूरत नही, भूल गया। यह ज्ञान वाह्य विषयो का होने के कारण वुद्धि के लिए भार-स्वरूप होता है। जवतक उसका उपयोग होता है तभी तक वुद्धि उसका भार वहन करती है। काम निपटते ही उसे फेंक देती है। ऐसे अवान्तर-ज्ञान का वहुत-सा वोझा वुद्धि पर लादना भारी विद्वत्ता का लक्षण समझा जाता है। भारी-भरकम विद्वत्ता का अर्थ है वुद्धि पर अधिक वोझ लादकर उसे कम कूवत वनाना। ऐसी भारी विद्वत्ता से वुद्धि में जड़ता और स्थूलता ही आवेगी। भगवान् करे, ऐसी भारी-भरकम विद्वत्ता किसीको न मिले। यह वात आत्मज्ञान पर लागू नही होती। आत्मज्ञान वोझ नही है।

१९०. आत्मज्ञान, ध्यान और इतर ज्ञानों का अधिक विवरण।

ध्यान की कोटि विलकुल अलग है। हम उपमा देते है, उदाहरणो से

विषय को स्पष्ट करते है, रूपको का उपयोग करते है, चित्र बनाते है, ये सब ध्यान के ही प्रकार है। एक वस्तु का दूसरी वस्तु पर आरोप करना ध्यान है। किसी सकेत को वस्तु का प्रतिनिधि समझना ध्यान का तत्त्व है। अर्थात् ध्यान एक बनावट है। कागज पर हम 'आलमारी' ये अक्षर कलम से लिखते है और लकडी की आलमारी का आरोप उन अक्षरो में करते है। यह है ध्यान। उससे ज्ञान नही बढता। साहित्य के अलावा उसका स्वतन्त्र उपयोग भी नही है। अक्षरो की उस आलमारी में घी की बरनी नही रखी जा सकती। वह तो सिर्फ एक वस्तु का चित्र अथवा प्रतीक है। अलग-अलग भाषाओ मे ऐसे एक ही वस्तु के भिन्न-भिन्न प्रतीक होगे, लेकिन किसी सकेत को वस्तु का प्रतिनिधित्व देना—यह आखिर बनावट ही है। ध्यान की तरह बाह्य विषयो का ज्ञान बनावट न होने पर भी, वह आत्मा के बाहर का होने से, उसका बोझा बुद्धि पर रहता है। यह अमुक वनस्पति है, इसके अमुक-अमुक गुण-धर्म है। यह सब मैने उनपर लादा नही है, यह सच है, अर्थात् वस्तुज्ञान है, लेकिन है बाहरी। वह मुझे याद रखना पडेगा। किन्तु यह बात आत्मज्ञान में नही है। वह जिस तरह बनावटी नही है उसी तरह बाहरी भी नही है। इसलिए वह एक बार प्राप्त होने पर हमेशा रहेगा। फिर उसके मलिन होने या नष्ट होने की सभावना नही है। यानी वह ज्ञान बौद्धिक नही, आत्मगत है। आत्मा में व्याप्त हो गया है। अब वह किसी भी प्रकार से जुदा या अलग न होगा। इसीको कहा है, "नैना प्राप्य विमुह्यति"।

१९१. ब्राह्मी स्थिति अंत काल में भी टिकती है।

"स्थित्वास्याम् अन्तकालेऽपि"—'अन्तकाल में भी इस स्थिति में टिककर' इन शब्दो का अर्थ यह करते हैं कि अन्तकाल में भी ब्राह्मी स्थिति को टिका रखना चाहिए। मनुष्य का अन्तकाल कठिन माना जाता है। उस समय अपनी स्थिति को टिकाये रखना सरल नही है। तब इतने प्रयासपूर्वक प्राप्त की गई स्थिति ऐन मौके पर अर्थात् आखिरी क्षण में न कायम रही तो सारा ही किया-कराया धूल मे मिल जायगा। अन्त समय में गाडी फिसल पडे तो

सभी चकनाचूर हो जायगा। इसलिए आमरण और मरण के समय भी उस स्थिति को टिकाये रखने की चिन्ता रखनी चाहिए, ऐसी विशेष सूचना इस वाक्य से ग्रहण की जाती है, परन्तु यह अर्थ ठीक नही है। अतकाल का महत्त्व है, इसमे कोई सन्देह नही। और यह भी सच है कि साधक को उसके लिए अन्त समय तक जागरूक रहना चाहिए। इसीलिए गीता के आठवे अध्याय मे प्रयाण-कालीन साधना सविस्तर बताई गई है। और वही यह सूचना भी दे दी गई है कि इस प्रयाण-काल की साधना को शक्य बनाने के लिए जीवन भर वैसा अभ्यास करते रहना चाहिए। परन्तु यह सब साधकावस्था के लिए है, ब्राह्मी स्थिति के लिए नही। वास्तव मे ऐसी बात ही नही है कि ब्राह्मी-स्थिति का क्षणमात्र के लिए अनुभव हो और बाद मे शायद वह स्थिति चली जाय, और इसलिए उसे टिकाये रखने का सतत प्रयत्न करना चाहिए, क्योकि ब्राह्मी स्थिति कोई वृत्ति नही है। वह तो निरन्तर रहने वाली अवस्था है। उसे सभाल बैठने की आवश्यकता ही नही होती। वह तो टिकेगी ही। विकट माने जाने वाले अन्तकाल में भी वह नही डिगेगी। यह 'अन्तकालेऽपि' का अर्थ है। स्थिति शब्द में जो अर्थ सूचित किया गया है उसका विवरण "नैना प्राप्य विमुह्यति' वाक्य के द्वारा किया है। और वही फिर 'स्थित्वास्याम् अन्तकालेऽपि' वाक्यखंड के द्वारा विशद किया गया है।

१९२. ब्राह्मी स्थिति में 'अगर-मगर' के लिए अवकाश नहीं है।

ब्राह्मी स्थिति हमेशा टिकती है, आपत्काल मे भी टिकती है और मरण-काल में भी टिकती है। अन्य ज्ञानो की तरह वह भूल जाने जैसी नही है। एक मनुष्य को कोई बीमारी हो गई। उसने अग्रेजी की कई परीक्षाए दी थी। और हुआ क्या कि अपने दीर्घ-कालीन और तीव्र रोग में वह अग्रेजी का सारा ज्ञान एकदम भूल गया, क्योकि वह सारा ज्ञान उसकी आत्मा के सिर लादा गया था। रोग से कमजोर हुई बुद्धि ने उसे फेक दिया, यह ठीक ही किया। परन्तु आत्मज्ञान की ऐसी बात नही है। भले ही वह लाखो जन्मो तक प्राप्त

न हो, पर एक वार प्राप्त होने पर फिर वह जा नही सकता। प्राप्त आत्मज्ञान 'अगर' अन्त समय में भी टिका 'तो' ब्रह्म-निर्वाण प्राप्त होता है, ऐसा 'अगर-मगर' का वखेडा यहा नही है। अगर-मगर वाले अर्थ की यहा गुजाइश नही है। वस्तुत यही स्पष्ट करने के लिए यह श्लोक है।

१९३. शंकराचार्य का विशेष अर्थ उपयुक्त, लेकिन अनावश्यक।

शकराचार्य के ध्यान मे यह वात आये विना नही रही। अत उन्होने 'अगर-मगर' वाले अर्थ को टालने के लिए एक दूसरी ही तरह से भाष्य किया है। अन्तकाल में,अर्थात् बिल्कुल अन्तिम क्षण में भी यदि यह स्थिति प्राप्त हो जाय तो भी मनुष्य ब्रह्म-निर्वाण प्राप्त कर लेगा , ऐसा उन्होने अर्थ किया है। आचार्य का यह कथन सत्य है, लेकिन इस श्लोक के शव्दो से वैसा अर्थ निकालने की जरूरत नही मालूम होती। 'स्थित्वास्याम् अतकालेऽपि' इन शव्दो का स्वारस्य या खूबी उसमें नही है। यह अवस्था इतनी दृढ और अडिग होती है कि अत्यन्त विकट माने जाने वाले अन्त समय को भी दाद नही देती, उस समय भी यह नही गडवडाती। ऐसी इस श्लोक की ध्वनि दिखाई देती है। आचार्य का अर्थ अनर्थ तो नही, परन्तु शव्द से दूर चला जाता है। और जो अर्थ ब्राह्मी स्थिति को टिकाने के लिए प्रयत्न करने की आवश्यकता वताता है उसे तो महज अर्थवाद ही कहना पडता है।

[२]

१९४. गीता का परम लक्ष्य ब्रह्म-निर्वाण। वही जीवन की सफलता।

अन्त में 'ब्रह्म-निर्वाणमृच्छति' इस वाक्य के द्वारा फल-श्रुति वताई गई है। 'स्थितप्रज्ञ' की तरह 'ब्रह्म-निर्वाण' भी गीता का अपना विशिष्ट शव्द है। ब्रह्म-निर्वाण' का अर्थ है ब्रह्म में मिलना, घुल जाना, लीन हो जाना। 'ब्रह्म-निर्वाण को जाता है' इसका अर्थ यह नही कि ब्रह्म दूसरी किसी जगह है और

उसमें लीन होने के लिए कही जाता है। मुझमें और ब्रह्म में देहाभिमान का पर्दा पडा वाह्यत. दिखाई देता है। उस परदे का नष्ट हो जाना ही ब्रह्म में लीनहो जाना है। ब्रह्म तो मै पहले से ही हूँ। देहाभिमानरूपी परदा हटाकर ब्रह्म मे लीन होना, उसमे मिल जाना, इसीमे मनुष्य-जीवन की सफलता है, इस आशय का सूचक शब्द 'ब्रह्म-निर्वाण' है। साराश यह कि इस शब्द के द्वारा गीता यही सूचित करती है कि सारा जीवन-व्यापार, व्यक्तिगत ससार, समाज-सेवा, ज्ञान-सपादन, ध्यान आदि सब बाते इसी उद्देश्य को सामने रखकर करनी चाहिए।

१९५. ब्रह्म-निर्वाण का अर्थ है देह को फेककर व्यापकतम होना।

ब्रह्म अर्थात् विशाल, व्यापक। सकुचित जीवन को छोडकर ब्रह्मरूप होना हमारा ध्येय है। एक जीवन दूसरे की अपेक्षा बडा है। इस तरह दूसरे से तीसरा बडा है। जीवो मे परस्पर ऐसा तर-तम-भाव पाया जाता है। तब भी ब्रह्म की तुलना में जीव बहुत छोटा है। कितना ही हो, फिर भी वह परिमित है। एक सीमा में बधा हुआ है। यह बद्धता छोडकर आजाद, खुला होना, व्यापक होना, उसका ध्येय है। उस दिशा मे प्रगति करना, उत्तरोत्तर व्यापकतर होते जाना यह साधना की दिशा है। व्यापकतम स्थिति प्राप्त होने का ही अर्थ है ब्रह्म-निर्वाण। वहा देह का परदा हट जाता है। यो देखा जाय तो देह साधक के लिए एक साधन-रूप है। कुछ समय तक वह साधना के लिए उपयोगी होता है। आगे मनुष्य की स्थिति जैसे-जैसे व्यापक होती जाती है, देह को वह पीछे-पीछे छोडता जाता है। इस व्यापकता के अभ्यास मे ही प्रारम्भिक अवस्था में देह एक साधन का काम देता है, लेकिन बाद की प्रगत अवस्थाओ मे वह विघ्नरूप होने लगता है। ज्ञान, ध्यान, उपासना, कर्मयोग इन सबके लिए प्रारम्भ मे देह उपकारक होता है, पर बाद मे इन सबका परिपाक विश्वव्यापी साक्षात्कार मे होने पर सबकुछ आत्ममय दिखाई देने लगता है। इस अनुभूति के बाद देह निरुपयोगी होने लगता है।

१९६. इसी स्थिति में लोक-संग्रह परिपूर्ण होता है।

इस स्थिति में भी, बल्कि इस स्थिति में विशेषत , उसके द्वारा लोक-सग्रह होता दिखाई देता है। लोगो की दृष्टि में वह लोक-सग्रह महान् भासता है, पर ज्ञानी पुरुष की अपनी दृष्टि से वह अल्प होता है। जब कोई ज्ञानी पुरुष मरता है तो हमें लगता है कि बडा नुकसान हो गया, इतने महान् लोक-सग्रह से हम वचित हो गये। तब भी उसकी मृत्यु-तिथि को पुण्यतिथि कहना पडता है। हमें वह पुण्यदिवस प्रतीत नही होता। तत्वज्ञ सतो ने हमपर यह शब्द लाद दिया है और हमने उसे चुपचाप स्वीकार कर लिया है, परन्तु वह शब्द अर्थ-भरित है। वास्तव में वह पुण्यतिथि ही होती है। ज्ञानी पुरुष के सच्चे लोक-सग्रह की उस दिन से शुरुआत होती है। उसके पहले जो लोक-सग्रह हुआ वह वास्तव में बहुत अल्प होता है। ज्ञानी पुरुप का हो तो भी उसका शरीर तो इतना-सा ही ठहरा न! उसके द्वारा कितना लोक-सग्रह हो सकेगा? लेकिन शरीर के द्वारा होने के कारण वह लोक-सग्रह प्रकट रहता है, दिखाई देता है। इस दर्शन-मोह के कारण, ज्ञानी पुरुष का शरीर-पात होने पर हमें प्रतीत होता है कि बहुत बडा नुकसान हो गया, लेकिन सच तो यह है कि सर्व-भूत-सेवा में यह शरीर आखिर बाधक ही होता रहता है।

१९७. वहां देह नहीं है, क्योंकि देह की आवश्यकता नही है।

शरीर का परदा रखते हुए सब भूतो के साथ पूर्ण समरस होना शक्य नही है। शरीर के कारण सबके हृदय में प्रवेश करने में बाधा आती है। जबतक हमारे पास अपने विशिष्ट हृदय का होना ही दूसरे के हृदय को पहचानने का साधन होता है तबतक शरीर काम की चीज है। मै खुद अपनी भूख-प्यास, सुख-दु ख इत्यादि अनुभवो से दूसरे की स्थिति को समझ पाता हूँ, इसीसे आत्मौपम्य की साधना के लिए मुझे अवसर प्राप्त होता है। मेरा हृदय जबतक दूसरे की स्थिति को समझने का नाप होता है तबतक शरीर का काम रहता है। लेकिन सर्वभूत-हृदय का साक्षात्कार होते ही, तादात्म्य की अनुभूति होते ही,

विशिष्ट देह, विशिष्ट इन्द्रियाँ, विशिष्ट मन, विशिष्ट बुद्धि, विशिष्ट हृदय ये सब 'विशिष्ट' बाधक हो जाते हैं, उपाधि साबित हो जाते हैं। इसलिए इन सब उपाधियो को तोडकर देहभाव फोडकर, सर्वभूत-हृदय से तादात्म्य पाना, अनन्त में लीन होना, ब्रह्म मे घुल-मिल जाना, यह अन्तिम ध्येय समझ में आने जैसा है। इसीको ब्रह्म-निर्वाण कहते हैं।

१९८. बौद्धों ने निषेधक शब्द 'निर्वाण' ले लिया।

बौद्धो ने इसमे से ब्रह्म निकालकर सिर्फ 'निर्वाण' शब्द को ले लिया है। इसका अर्थ इतना ही है कि बौद्धो को निषेधक भाषा पसन्द आई। मनुष्य अपनापन छोड दे, अहतारूपी मटके को फोड डाले, इसी भाव का सूचक 'निर्वाण' शब्द है। मनुष्य के मरने पर उसके नाम से हम एक हाडी फोडते है। हिन्दू-धर्म-शास्त्र ने ऐसी एक विधि चला दी है। इसके मूल में यह कल्पना है कि यह यो भी 'मरा' तो कहा ही जायगा, पर इसे सच्चे अर्थ में मर जाने दो। उसकी वासना का ठीकरा फूट जाने दो, उसकी अहता का नाश हो जाने दो। शरीर की राख कर डालने का हेतु भी यही है। बाप मर गया, उसे गाड दिया और समाधि पर आम का पेड लगाया। उसमे आम लगे। हम कहते हैं, मेरे पिता की समाधि पर के ये आम है। मा को खेत मे गाडा। नीबू का पेड लगाया। इस नीबू को मेरी मा की हड्डियो का खाद मिला। इस मोह से लोगो को छुडाने के लिए दहन-क्रिया शुरू की है। यह दहन-क्रिया एक महान विचार का चिह्न है। मृत व्यक्ति किसी-न-किसी रूप मे हमसे चिपका रहे—यह मोह किस लिए ? मै क्या ऐसा पारसमणि हू जो मुझसे चिपके रहने से उसका जीव सोने का हो जायगा ? मरने पर भी मनुष्य किसी-न-किसी रूप मे शेष रहे, इस भाव से उसे गाडकर उसपर चबूतरा बनाना, निदान एक पेड ही लगा देना, या और कुछ नही तो कम-से-कम उसके नाम की एक पटिया ही लगा देना, यह मर जाने पर भी उसे फिर से पकड रखने के प्रयत्न जैसा ही है। इसी-लिए दहन का मार्ग निकला। तब भी स्मारक बनते ही है। जलाकर राख बना दो फिर बिलकुल खत्म हो जायगा। इस निषेधक भावना का द्योतक होने से

बौद्धोंने निषेधक शब्द पसन्द किया है । मनुष्य का मोह उसकी देह के साथ ही नष्ट हो जाय, वह शून्य हो जाय, इसीलिए बौद्धो ने अकेला 'निर्वाण' शब्द ही लिया है ।

१९९. वैदिको को 'ब्रह्म-निर्वाण' विधायक भाषा मधुर प्रतीत हुई ।

किन्तु वैदिको ने 'ब्रह्म-निर्वाण' इस विधायक शब्द को पसन्द किया । वैदिको को विधायक भाषा अच्छी लगी । क्यो लगी, यह देखें तो दोनो पक्षो की भाषा की मधुरता और मर्यादा ध्यान में आ जायगी । भाषा का पूर्ण रूप से निर्दोष होना सभव नही है । भाषा का स्वरूप ही ऐसा विलक्षण है कि वह एक तरफ से अर्थ समझाती है तो दूसरी तरफ गलतफहमी पैदा करती है । अत विधायक और निषेधक दोनो तरह की भाषा का भाव समझकर जो रुचे उसे स्वीकार करो । वैदिको को लगा कि मोक्ष को अभाव-रूप में कहने की अपेक्षा भावरूप में कहना उचित है । वैदिको को लगा कि 'हम नष्ट हो गये', शून्य हो गये, कहने की अपेक्षा हम 'व्यापक हो गये ' 'अनन्त हो गये' कहना अधिक अच्छा है । इसके विपरीत बौद्ध कहते है 'मिट गये' ऐसा कहने मे घबराते क्यो हो ? जरा हिम्मत करो । शून्य बनो । 'मिट जाने' का डर छोडो । "मै अनन्त होऊगा, व्यापक होऊगा,सर्वमय होऊगा"—इसमे अस्तित्व का जो मोह है उसे छोड दो । इसपर वैदिक कहते है, यहा डर और मोह का प्रश्न नही है । अनुभूति के विरुद्ध कल्पना कैसे करे? अबतक नाना प्रकार की साधना करके सब-कुछ छोडा और आत्मनिष्ठ बने । जन्म-मृत्यु को पीछे छोडकर अपना वास्तविक स्वरूप प्राप्त किया । धर्म से अधर्म का नाश किया, फलत्याग से धर्म को आत्मसात् किया, ईश्वरार्पण के द्वारा फलत्याग को उडाया, अन्त में अद्वैतानुभूति से ईश्वर को भी अपने में समा लिया, अब वह मै ही मिटने वाला हू यह कैसे मानू ? सब वस्तुओ का निराकरण करने पर शेष 'बचने वाला जो मैं हू वही व्यापक हो गया है,ब्रह्ममय हो गया है, यही कहना अधिक युक्तियुक्त है ।

२००. वस्तुतः दोनों एक ही है।

लेकिन मोक्ष को भावरूप कहने पर भी उसमे कुछ नवीन जोडना है, यह आशय वैदिको का भी नही है। इसके विपरीत बौद्ध भी आत्मा के अस्तित्व का निषेध करना चाहते है ऐसा, खयाल करना भी मेरी समझ से उनके आशय को गलत समझना है। ऐसी गलतफहमी बहुतो को हुई है, बडे-बडो को हुई है, तब भी वह है तो गलतफहमी ही। बौद्धो को 'मै' की भाषा नही चाहिए। फिर बाकी कुछ भी क्यो न हो? इसलिए यह भाषा-भेद मुख्यत रुचि-भेद के कारण हुआ है, यही समझना चाहिए। इसमें अर्थ की दृष्टि से मुझे तो खास कोई भेद दिखाई नही देता। अच्छा ही है कि बौद्धो को 'मै' से अरुचि है। अनेक हीन अनुभवो के कीचड मे लथपथ 'मै' की जरूरत ही क्या? और सच पूछो तो 'ब्रह्म-निर्वाण' शब्द मे उसे कहा जगह दी गई है? सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो 'ब्रह्म-निर्वाण' शब्द केवल विधायक नही है। वह निषेधक अर्थ को गर्भ मे लिये हुए विधायक है। दोनो अर्थों के सग्राहक के रूप में ही गीता ने उसकी तजवीज की है। 'ब्रह्म-निर्वाण' कहने पर 'मै' चला गया। ब्रह्म बाकी बचा। इसमें डरने की कोई बात ही नही। जहा शब्द ही समाप्त हो जाते है वहा शब्दो के लिए झगडा ही क्यो? गीता की भाषा में तो कहूगा, "एक ब्रह्म च शून्य च, य पश्यति स पश्यति", जो ब्रह्म और शून्य को एक देखता है वही देखता है। इसलिए 'ब्रह्म-निर्वाण' शब्द के द्वारा सारा वाद ही मिटा दिया है।

॥ यहा स्थितप्रज्ञ का दर्शन परिपूर्ण होता है ॥

॥ ॐ तत् सत् ब्रह्मार्पणमस्तु ॥

विनोबा-साहित्य

विनोबा के विचार (दो भाग) प्रति भाग २)

विनोबाजी के निबन्धो व व्याख्यानों का महत्त्वपूर्ण संग्रह ।

गीता-प्रवचन अजिल्द १। सजिल्द २।)

गीता के प्रत्येक अध्याय का बडी ही सरल, सुबोध शैली में विवेचन।

शाति-यात्रा अजिल्द २।।। स० ३।।)

गाधीजी के देहावसान के बाद अनेक स्थानो में दिये गए विनोबा-प्रवचन ।

स्थितप्रज्ञ-दर्शन १।।)

गीता के आदर्श पुरुष स्थितप्रज्ञ के लक्षणों की व्याख्या ।

ईशावास्यवृत्ति ।।।)

ईशोपनिषद की विस्तृत टीका ।

ईशावास्योपनिषद् =)

मूल श्लोकों सहित ईशोपनिषद् का सरल अनुवाद ।

सर्वोदय-विचार ।।।)

सर्वोदय-विषयक लेखो व प्रवचनो का सग्रह ।

स्वराज्य-शास्त्र १)

स्वराज्य की परिभाषा, अहिंसात्मक राज्य-पद्धति एव आदर्श राज्य-व्यवस्था का प्रश्नोत्तर के रूप मे विवेचन ।

भू-दान-यज्ञ ।)

देश के भूमिहीनो की दुर्दशा से प्रभावित होकर भूमि के समवितरणार्थ दिये गए प्रवचन ।

राजघाट की सन्निधि में ।।।=)

भू-दान-यज्ञ के सिलसिले मे दिल्ली में दिये गए विनोबाजी के प्रवचन।

गाधीजी को श्रद्धाजलि ।।)

गाधीजी के निधन के बाद वर्धा में दिये गए विनोबाजी के प्रवचन। बापू के प्रति सर्वोत्तम श्रद्धाजलि ।

सर्वोदय-यात्रा १।)

सर्वोदय-सम्मेलन, शिवरामपल्ली के अवसर पर पैदल-यात्रा में दिये गए सन्त विनोबा के प्रवचनो का सकलन ।

सस्ता साहित्य मण्डल

नई दिल्ली